VISHVA–JYOTI REGD NO. PB-HSP-01 ISSN 0505-7523
(1.1.2021 TO 31.12.2023)
R.N. No. 1/57

3/2/21

मासिक पत्रिका (JOURNAL)

विश्वज्योति

(PEER REVIEWED JOURNAL)

(अभिनिर्देशित मासिक पत्रिका)

69वां वर्ष, 11 अंक, फरवरी 2021 ई०

संचालक–सम्पादक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल

सह–सम्पादक
डॉ. देवराज शर्मा

प्रकाशन स्थान
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
साधु आश्रम, होश्यारपुर–146021 (पंजाब, भारत)

विशेष-सूचना

भविष्य में जो भी प्राध्यापक अथवा शोध-छात्र पदोन्नति या यत्र-तत्र नियुक्तिहेतु अपना लेख विश्वज्योति में छपवाना चाहते हैं, वे कम से कम ५ पृष्ठ का अथवा अधिक से अधिक ७ पृष्ठ तक का सटिप्पण अपना लेख भेजें, टिप्पण नीचे या लेख के अन्त में दे सकते हैं। ऐसे लेखों पर ही (Peer Reviewed Journal) का ISSN नम्बर छापा जायेगा।

स्वतन्त्र लेखकों, कविता एवं नाटक के लिए यह बन्धन नहीं है। वे स्वतन्त्रता से अपनी रचना भेज सकते हैं।

सम्पादक विश्वज्योति

ISSN 0505-7523

प्रकाशक
विश्वेश्वरानन्द–वैदिक–शोध–संस्थान
साधु आश्रम, होश्यारपुर–146021 (पंजाब, भारत)
(अभिनिर्देशित पत्रिका)
(PEER REVIEWED JOURNAL)

प्रकाशन–परामर्शदात्री समिति :

डॉ. दर्शन सिंह निर्वैर, आजीवन सदस्य, वि.वै. शोध संस्थान कार्यकारिणी समिति, साधु आश्रम, होश्यारपुर.

डॉ. (श्रीमती) कमल आनन्द, आदरी प्रोफैसर (वि.वै. शोध संस्थान, होश्यारपुर), 1581, पुष्पक कम्पलैक्स, सैक्टर 49–बी, चण्डीगढ़.

डॉ. जयप्रकाश शर्मा, 1486, पुष्पक कम्पलैक्स, सैक्टर 49–बी, चण्डीगढ़.

प्रो. जगदीश प्रसाद सेमवाल, आदरी प्रोफैसर (वि.वै. शोध संस्थान, होश्यारपुर), एफ–13, पंचशील इन्कलेव, जीरकपुर (मोहाली) पंजाब.

प्रि. उमेश चन्द्र शर्मा, पी.ई.एस.(I) रिटा0, शिवशक्ति नगर, होश्यारपुर.

प्रो. (सुश्री) रेणू कपिला, कोठी नं. बी–309, डी.सी. लिंक रोड, होशियारपुर (पंजाब).

दूरभाष : कार्यालय : 01882–223581, 223582, 223606
संचालक (निवास) : 01882–244750
E-mail : vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com
मुद्रक : विश्वेश्वरानन्द वैदिक–शोध–संस्थान प्रैस, होश्यारपुर
(पंजाब)

निर्णायकमण्डल सदस्य (Review Committee)

- प्रो. रघवीर सिंह, वी.वी.बी. संस्कृत एवं भारतभारती अनुशीलन संस्थान (पंजाब विश्वविद्यालय पटल), साधु आश्रम, होश्यारपुर (पंजाब).
- प्रो. ललित प्रसाद गौड, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा).
- प्रो. प्रेम लाल शर्मा, वी.वी.बी. संस्कृत एवं भारतभारती अनुशीलन संस्थान (पंजाब विश्वविद्यालय पटल), साधु आश्रम, होश्यारपुर (पंजाब).
- प्रो वीरेन्द्र कुमार वेदालंकार, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ.
- प्रो. मुकेश कुमार अरोड़ा, हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट कालेज, लुधियाना (पंजाब).
- डा. सुधांशु कुमार षडंगी, वी.वी.बी. संस्कृत एवं भारतभारती अनुशीलन संस्थान (पंजाब विश्वविद्यालय पटल), साधु आश्रम, होश्यारपुर (पंजाब).

ISSN 0505-7523

भारत में एक प्रति का मूल्य : १० रुपये.

विदेश में एक प्रति का मूल्य : ३ डालर.

प्रकाशन विषयक विशिष्ट नियम

१ विश्वज्योति अभिनिर्देशित पत्रिका **(Peer Reviewed Journal)** विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित की जाती है।

२ पत्रिका **(JOURNAL)** प्रत्येक मास की २८ तारीख को (अनिवार्य रूप से) प्रकाशित होती है।

३ इसका प्रकाशन वर्ष अप्रैल मास से प्रारम्भ होता है।

४ इसके अप्रैल-मई एवं जून-जुलाई के दो वार्षिक विशेषांक प्रकाशित होते हैं।

५ भविष्य में जो भी प्राध्यापक अथवा शोध-छात्र पदोन्नति या यत्र-तत्र नियुक्तिहेतु विश्वज्योति में लेख को छपवाना चाहते हैं, वे कम से कम ५ पृष्ठ का अथवा अधिक से अधिक ७ पृष्ठ तक का सटिप्पण अपना लेख भेजें, टिप्पण नीचे या लेख के अन्त में दे सकते हैं। ऐसे लेखों पर ही (Peer Reviewed Journal) का ISSN नम्बर छापा जायेगा।

विशेषः स्वतन्त्र रूप से लेख भेजने वाले विद्वान् लेखकों के लिए यह बन्धन नहीं है। वे स्वतन्त्रता से अपनी रचना, कविता एवं नाटक भेज सकते हैं।

६ संस्थान के पैटर्न सदस्य, आजीवन-सदस्य तथा वार्षिक-सदस्यों को विश्वज्योति निःशुल्क नियमतः भेजी जाती है।

७ अन्य संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं के साथ इसका विनियम भी किया जाता है।

८ विश्वज्योति सम्बन्धी पत्रव्यवहार संचालक अथवा सम्पादक के पते पर किया जा सकता है।

९ किसी संस्था, पुस्तकालय एवं विद्वान् के आग्रह पर हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार को ध्यान में रखते हुए उनको विश्वज्योति निःशुल्क भी भेजी जा सकती है।

१० विश्वज्योति में समालोचनार्थ समालोच्य पुस्तक या ग्रन्थ की दो प्रतियाँ भेजनी अनिवार्य हैं। जिस अंक में समालोचना प्रकाशित की जाती है, वह अंक लेखक को निःशुल्क भेजा जाता है।

११ विश्वज्योति का मूल्य निम्न प्रकार से है- भारत में एक प्रति का मूल्य १० रुः विदेश में ३ डालर। भारत में वार्षिक सदस्यता १०० रुः तथा विदेश में वार्षिक सदस्यता- ३० डालर। भारत में आजीवन सदस्यता १२०० रुः तथा विदेश में ३०० डालर है। विशेषाङ्क २ भाग भारत में ५० रुः तथा विदेश में १२ डालर हैं।

विशेषः- (क) लेखक को पारिश्रमिक देने का नियम नहीं है।

(ख) प्रकाशित लेख की एक प्रति लेखक को भेजी जाती है।

सम्पादक

विषय-सूची

लेखक	विषय	विधा	पृष्ठांक
श्री अखिलेश निगम 'अखिल'	मंगलमय नववर्ष	कविता	८
श्री बलराज शर्मा	शिक्षा के लिए योग की उपयोगिता	लेख	९
डॉ. शम्भु कुमार झा	योगवासिष्ठ में आत्मतत्त्व	लेख	१६
श्री सीताराम गुप्ता	अपने जीते जी अपनी संपत्ति बच्चों के नाम न करवाना अनैतिक अथवा अव्यावहारिक नहीं	लेख	२२
डॉ. निर्मल कौशिक	महर्षि दयानन्द सरस्वती और हिन्दी	लेख	२५
श्री सीताराम पाण्डेय	सत्यं शिवं सुन्दरम्	लेख	३०
डॉ. गुलशन शर्मा	डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्यों में गुणौचित्य	लेख	३४
पण्डित वेदप्रकाश शास्त्री	गायत्री महामन्त्र	कविता	३७
डॉ. महेश सिंह यादव	श्रीमद्भगवद्गीता- आत्मा और परमात्मा एक अनुशीलन	लेख	३८
श्री विश्वनाथ देवशर्मा	पुरुषार्थ-चतुष्टय का अध्ययन	लेख	४१
श्री दिनेश कुमार	स्वप्नवासवदत्तम् में ध्वनि-तत्त्व	लेख	४५
	संस्थान-समाचार		५१
	विविध-समाचार		५२
	विशेष सूचना		५३

विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात् ॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ६९ होश्यारपुर, माघ २०७७; फरवरी २०२१ संख्या ११

अग्निश्च मे आपश्च मे,
वीरुधश्च म ओषधयश्च मे,
कृष्टपच्याश्च मे ऽकृष्टपच्याश्च मे,
ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे,
वित्तं च मे वित्तिश्च मे,
भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।।

(यजुर्वेद. १८.१४)

मेरी अग्नि और मेरा (**आपः**) जल, मेरी (**वीरुधः**) वेलें और मेरे (**ओषधयः**) बूटे, मेरी (**कृष्टपच्याः**) खेती की उपज और मेरी (**अकृष्टपच्याः**) जंगली उपज, मेरे (**ग्राम्याश्च पशवः**) घरेलु पशु और मेरे (**आरण्याः**) जंगली पशु, मेरा (**वित्तं**) धन और मेरी (**वित्तिः**) संपत्ति, मेरा (**भूतं**) ऐश्वर्य और मेरा (**भूतिः**) वैभव (ये सब) (**यज्ञेन कल्पन्ताम्**) यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

(वेदसार-विश्वबन्धुः)

मंगलमय नववर्ष

– श्री अखिलेश निगम 'अखिल'

नये वर्ष में नव विहान हो, नया गान हो,
हर जीवन में नये सूर्य की शुभ लाली हो।
कोरोना से मुक्ति मिले, जीवन में पुष्प खिलें,
आपकी झोली कभी भी, खुशियों से न खाली हो।
रोग, दु:ख होवे दूर, अहंकार चूर-चूर,
आपके घर पर भाग्य की स्वर्णिम थाली हो।
'अखिल' ईश की कृपा सदा रहे आप पर,
परिवार की बगिया में नित हरियाली हो।।

नूतन वर्ष के दिवाकर की स्वर्ण रश्मियाँ और सुधाकर की सुधावर्षा आप तथा आपके परिवार को अनवरत आलोकित एवं आह्लादित करती रहें।

सन्देश

समय बली होता है सदा, रखिए यह नित ध्यान।
घर, पद, धन या ज्ञान का, मत करिए अभिमान।।

दीपक बनकर तुम जलो, मत हो यों बेहाल।
ज्योति छुएगी व्योम को, बनकर एक मशाल।।

दो गज दूरी नित रखें, पहनें मास्क जरूर।
सेनेटाइज का ध्यान रखें कोविड होगा दूर।।

आलस जीवन को सदा, करता है गतिहीन।
लक्ष्य प्राप्ति की शक्ति को, लेता है वह छीन।।

जीवन में संकल्प लें, नशे को देंगे त्याग।
नया सूर्य होगा उदित, जाग मनुज अब जाग।।

वर्तमान में तुम जियो, बाँटो सबमें प्यार।
सुख-दुख दोनों हैं क्षणिक, यह जीवन का सार।।

– आई.पी.एस., पुलिस अधीक्षक (सहकारिता) अपराध अनुसंधान विभाग, उ.प्र.,
प्रथम तल (तृतीय टावर) पुलिस मुख्यालय, प्लाट नं. ३०, सेक्टर-०७, गोमतीनगर विस्तार, शहीद पथ, लखनऊ-२२६०१०

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523
फरवरी, २०२१

शिक्षा के लिए योग की उपयोगिता

– श्री बलराज शर्मा

आज की शिक्षाप्रणाली का सूत्रपात लार्ड मेकाले द्वारा २ फरवरी १८३५ में प्रदत्त प्रस्ताव के आधार पर लार्ड विलियम बैन्टिंक ने ७ मार्च, १८३५ में किया। इसका मुख्य उद्देश्य था भारत में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ बनाने के लिये भारतवासियों को ईसाई बनाना और अंग्रेजी शिक्षित व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग सृजित करना जो रक्त और रंग से तो भारतीय हो परन्तु रुचि, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, सोच और दिमागी तौर पर अंग्रेजी-सभ्यता के रंग में रंगा हुआ हो। अंग्रेजी-शिक्षा के विस्फोटक प्रभाव को जो कल्पनातीत था, देखकर विस्मयाविष्ट मेकाले कलकत्ते से १२ अक्तुबर १८३६ में अपने पिता को निम्नलिखित पत्र लिखता है जिससे ज्ञात होता है कि उसकी शिक्षा-प्रणाली का क्या उद्देश्य था- ''हमारे अंग्रेजी स्कूल आश्चर्यजनक रूप से फल-फूल रहे हैं। कुछ स्थानों में उन सब को जो पढ़ना चाहते हैं प्रवेश देना कठिन ही नहीं बल्कि हम सचमुच असंभव कार्य समझ रहे हैं। केवल एकमात्र हुगली कस्बे में ही १४०० बालक अंग्रेजी सीख रहे हैं। हिन्दुओं पर इस शिक्षा का प्रभाव असाधारण है। कोई भी हिन्दू जिसने अंग्रेजी-शिक्षा प्राप्त की है, अपने धर्म के साथ कभी भी मन से जुड़ा नहीं रहेगा। कुछ नीतिवश प्रकट रूप से हिन्दूधर्म को मानने का दिखावा करते हैं परन्तु बहुत से अपने आप को शुद्ध देववादी प्रदर्शित करते हैं और कुछ ईसाई धर्म को ग्रहण कर लेते हैं। यह मेरा पक्का विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा की योजनाएँ चलाई जाती रहीं तो आज से तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के संभ्रान्त परिवारों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा और यह सब संपन्न होगा बिना किसी धर्मान्तरण के प्रयास से एवं बिना तनिक भी धार्मिक स्वतंत्रता में हस्ताक्षेप के............... मुझे इस सम्भावना से हार्दिक प्रसन्नता होती है।'' १५९ वर्ष [१८३५-१९९४] से चली आ रही मेकाले की शिक्षा-पद्धति के प्रसार से संवेदनशील वय के असंख्य बालक उस बौद्धिक संपदा से दूर रखे गए जो, हमने स्मरणातीत काल से अर्जित की थी। परिणामतः मेकले के सपनों की पीढ़ियां उत्पन्न हुईं जो अपनी समृद्ध विरासत से वंचित होने के कारण अपने मूल से कट गईं। उनके स्थान पर भारतीयता से विरहित बर्बरों की ऐसी पीढ़ियां, जो रक्त और रंग से भारतीय प्रतीत होती हैं परन्तु जिन्हें अपनी प्राचीन परम्पराओं और उपलब्धियों, विशेषतः हिन्दुओं से, यूरोपियनों एवं मिशनरियों

के समान नफरत थी, उत्पन्न हुईं। प्राचीन भारत के ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, दर्शन, धर्म, कलाएँ इन युवकों के लिए निरर्थक बन गईं, इन्हें वे अजायवघरों की अंधेरी कोठरियों में बन्द करने योग्य समझने लगे। इस निष्प्राण आत्मघाती एवं आत्महन्ता शिक्षा ने जो हमारे ऊपर लादी गई थी, पैदा किये कल्र्क एवं महिमा-मण्डित अधिकारी जो आचारहीन, असत्यनिष्ठ एवं चरित्रहीन मानव कंप्यूटर हैं।

११२ वर्ष बाद (१९४७ ई.) में लार्ड वेवल ने मेकाले की शिक्षाप्रणाली का आकलन किया। इसका प्रचण्ड ध्वंसात्मक प्रभाव वेवल के इस कठोर अभ्यारोप से प्रकट होता है, जो उन्होंने भारत का वायसराय पद छोड़ते समय सम्राट् जार्ज षष्ठ को भेजे गए विदाईपत्र में लगाया था। उन्होंने कहा था, ''मेरा विश्वास है कि शिक्षा के क्षेत्र में हमारा योगदान सबसे निकृष्ट रहा है क्योंकि हमने भारतीयों को केवल मस्तिष्क की शिक्षा दी है, चरित्र की नहीं, फलस्वरूप साधारण शिक्षित भारतीय न चरित्रवान् है और न अनुशासनप्रिय। भारतीयों को ये दोनों गुण सीखने पड़ेंगे यदि उन्हें कभी एक राष्ट्र बनना है।

हमें दु:ख के साथ लिखना पड़ रहा है कि एक विदेशी ने अंग्रेजीशिक्षा के राष्ट्रघाती और आत्मघाती दुष्प्रभावों का तो सही आकलन कर लिया परन्तु हम स्वतंत्रताप्राप्ति के इतने वर्षों पश्चात् भी इस शिक्षापद्धति को न केवल गले लगाए बैठे हैं। बल्कि इसका व्यापक प्रचार और प्रसार अनथक भाव से कर रहे हैं। आर्यसमाजी महर्षि दयानन्द के उपदेशों और मान्यताओं की धज्जियां उड़ा रहे हैं और सनातनधर्मी आर्ष उपदेशों को तिलांजलि दे रहे हैं। दौड़ लगी हुई है अंग्रेजी माध्यम स्कूल खोलने की, अंग्रेजीयत का प्रसार-प्रचार करने की। बच्चे एक-दो भूल कर वन-टू और सोमवार-मंगलवार को मण्डे-टयूज्डे के नामों से जानने लग गए हैं।

पश्चिम की भौतिक सभ्यता की तड़क-भड़क ने हमें इतना दिग्भ्रमित कर दिया है कि हम उसकी चकाचौंध में अपने ज्ञान-विज्ञानरूपी रत्नों को काँच समझ बैठे और विदेशी आयातित सामग्री को रत्नराशि। उन व्यक्त रत्नों में से एक रत्न है योग जिसकी परिभाषा महर्षि पतंजलि जी ने योगदर्शन में ''योग: श्चित्तवृत्तिनिरोध:'' अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना योग हैं। योग की दीर्घकालीन अभ्यास और साधना से मानव निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है और अन्त में सफलता प्राप्त करता है।

हमारा विवेच्य विषय है- यह जानना कि शिक्षा और व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में योग की क्या भूमिका है। जैसा हमने पहले कहा है कि पाश्चात्यशिक्षा की दीर्घकालीन परम्परा ने हमें अपनी अनुपम ज्ञान-विज्ञान राशि से न केवल उदासीन ही नहीं बना दिया था प्रत्युत हम उसे ग्रहणीय समझने लग गये, दासवृत्ति के कारण यदि कुछ गुणग्राहक पश्चिमी विद्वानों ने हमारी ज्ञान-सम्पदा के किसी एक अंश को सराहा तो

हमें अपने प्रभुओं द्वारा प्रशंसित वह अच्छी लगने लग गई। इसी प्रकार योग का एक अंश 'आसन' जो विदेशियों को शरीर को स्वस्थ रखने के लिये परम उपयोगी और वैज्ञानिक समझ पड़ा और उनके द्वारा सराहा गया तो हम भी उसके गुणगान करने लग गए। हमारा योग बाहर से आने पर विदेशी रूप में योगा बन गया और हमने इस भ्रष्ट उदाहरण को अपना लिया। हम भूल गए कि योग केवल शरीर को स्वस्थ रखने का शोधक मात्र ही नहीं है; प्रत्युत यह आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा है, सर्वोत्तम जीवनपद्धति है जिसको आत्मसात् करके हम चतुवर्ग-धर्म अर्थ काम मोक्ष- को अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। जीवन के हर क्षेत्र में इसकी उपयोगिता और सार्थकता है।

चित्त की वृत्तियों का रोकना योग है। चित्त की पांच अवस्थाएं है। (१) मूढ़ावस्था- इस में तम प्रधान है। काम, क्रोध, लोभ और मोह के कारण यह अवस्था होती है। (२) क्षिप्तावस्था- यह रजोगुण प्रधान है, इसमें तम और सत्त्व दबे होते हैं। यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्यों की होती है। (३) विक्षिप्तावस्था- इसमें सत्त्वगुण प्रधान होता है। इसमें सत्त्व की प्रधानता होने से मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान वैराग्य एवं ऐश्वर्य की ओर होती है। (४) एकाग्रावस्था- इसमें चित्त में बाह्य विषयों के रज तथा तम का प्रभाव नहीं रहता। अत: चित्त निर्मल चमकते हुए स्फटिक के सदृश स्वच्छ होता है। एकाग्रता को सम्प्रज्ञात-समाधि भी कहते हैं (५) निरुद्धावस्था- इसे असम्प्रज्ञात तथा निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इसमें सर्ववृत्तियों के निरुद्ध होने पर मानव (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवस्थित होता है। अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना अभ्यास है। दीर्घकाल तक श्रद्धाभक्ति से किये जाने पर वैराग्य दृढ़ हो जाता है।

योग के अंग आठ हैं- ''यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि'' अर्थात् यम नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि (ये) आठ योग के अंग है। ये योग के आठ अंग विवेकख्याति के साधन हैं। धारणा, ध्यान, समाधि योग के अन्तरंग साधन हैं क्योंकि ये साक्षात् सहायक हैं। यम नियम योग के रुकावट हिंसादि वितर्कों को निर्मूल करके समाधि को सिद्ध करते हैं। शेष तीन उत्तरोत्तर अंग में उपकारक हैं जैसे आसन सिद्ध होने पर प्राणायाम स्थिर होता है और प्राणायाम की स्थिरता से प्रत्याहार सिद्ध होता है।

यम का अर्थ है संयम करना, नियंत्रित करना, दमन करना, नियन्त्रण, संयम, आत्मनियन्त्रण। यमों की संख्या बहुधा दस बतलाई जाती है, परन्तु भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं जैसे ब्रह्मचर्य-क्षमा-दया क्षान्तिर्दानं-सत्यमकल्पता, अहिंसाऽस्तेय-माधुर्य- दमश्चेति यमा: स्मृता:। (याज्ञ ०३/३१३) मा आनृशंस्यं दया सत्यमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्, प्रीति: प्रसादो माधुर्यं मार्दवं च

यमाः दश। कहीं ये पांच ही बतलाये जाते हैं- अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्पता अस्तेयमिति पंचैव यमाख्यानि व्रतानि च। योगसूत्र में यम ''अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचयापरिग्रहा यमाः'' योगसूत्र, २,३१ अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यम हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ये चारों सभी परिभाषाओं में है।

अहिंसा- सर्वकाल में सर्वप्रकार से सब प्राणियों की हिंसा न करना तो अहिंसा है ही, पर किसी भी प्राणी के प्रति चित्त में भी द्रोह न करना अहिंसा है। अहिंसा ही सब यम-नियमों का मूल है। जो साधक सम्पूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी अपनी आत्मा को ही देखता है वह इस सर्वात्मदर्शन के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता। हिंसा तीन प्रकार की है (१) शारीरिक- किसी प्राणी का प्राणहरण अथवा अन्य प्रकार से पीड़ा पहुंचाना (२) मन को क्लेश देना (३) आध्यात्मिक- अन्तःकरण को मलिन करना। जब कोई किसी की हिंसा करता है तो उसका अन्तःकरण दूषित हो जाता है अतः आध्यात्मिक हिंसा सबसे बड़ी हिंसा है।

सत्य- महाभारत में सत्य की महिमा बताते हुए कहा है- सहस्र अश्वमेधों के फल की सत्य बोलने के फल से यदि तुलना की जाए तो सत्य बोलने का फल अधिक होगा। साथ ही आगे कहा है कि स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिये या हंसी में भी जो झूठ नहीं बोलते उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

अस्तेय- अस्तेय सत्य का ही रूपान्तर है। छिपकर किसी की वस्तु या किसी का धन चुराना तो स्तेय है ही परन्तु किसी से अत्याचार करके धन प्राप्त करना, मजदूरों को पूरी मजदूरी न देना, वस्तुओं में मिलावट करके धन कमाना, रिश्वत लेना, फीस के लिये झूठे मुकदमे लड़ना, रोगी से अधिक फीस लेना भी स्तेय ही है। यदि अस्तेय-व्रत का पालन होता रहे तो समाज में बहुत से आन्दोलन न हों। अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सब रत्नों की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्य-केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये समागम करने वाला पुरुष गृहस्थ आश्रम में सभी प्रकार से इन्द्रियों को वश में रखता है।

अपरिग्रह- अपनी आवश्यकताओं से अधिक केवल अपने ही भोग के लिये स्वार्थ दृष्टि से धन-का संचय करना परिग्रह है। ऐसा न करना अपरिग्रह है। यदि प्रत्येक मनुष्य के पास केवल उसी की आवश्यकताओं के अनुसार ही सारी वस्तुएं रहें तो कोई मनुष्य निर्धन, भूखा और बेघर न रहेगा। समाज में संतुलन रहेगा और रामराज्य होगा। योगदर्शन में यमों का महत्त्व इस योगदर्शन सूत्र २,३१ में इस प्रकार है-

एते जाति-देशकाल-समयानविच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।।

इसका तात्पर्य है कि- जाति, देश, काल और समय की सीमा से परे समस्त भूमण्डल में पालने योग्य ये यम महाव्रत हैं। यमों का पालन किसी जातिविशेष, देशविशेष, कालविशेष या अवस्था-विशेष के लिये नहीं है; किन्तु यह

भूमण्डल पर रहने वाला सभी जातियों, देशों और सभी कालों में अनुसरण करने योग्य है। इनका सम्बन्ध केवल कुछ मनुष्यों से नहीं है; प्रत्युत सारे मानवसमाज से है। अत: सारे मानव इनके पालन करने में समष्टिरूप से परतंत्र हैं। महाराज मनु के ये वचन-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः
।।२-२०।।

मनु महाराज ने यमों की श्रेष्ठता बताते हुए कहा है- यमों को नित्य धारण करे, नियम नहीं (क्योंकि) यमों का परित्याग कर केवल नियम को धारण करने से पतित हो जाता है।

यमों के पश्चात् चित्तवृत्ति निरोध के लिये नियम सेवनीय हैं। यमों और नियमों का भेद अमरकोश में इस प्रकार बताया गया है; शरीर साधन के निमित्त जो कर्म किया जाता है वह यम है। नियम वह कर्म है, जो नैमित्तिक या आनुषंगिक साधन है। नियम निम्नलिखित है- ''शौच-संतोषतप:-स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमा: (साधनपाद, ३२) अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान नियम हैं। इनका क्रमश: वर्णन इस प्रकार है:- शौच दो प्रकार का है। (१) बाह्य (२) आभ्यन्तर।

बाह्य शौच- मिट्टी जल आदि से वस्त्र, पात्र, स्थान आदि को पवित्र रखना तथा मिट्टी जल आदि से शरीर के अंगों को शुद्ध रखना। सात्त्विक नियमित आहार से देह को सात्त्विक नीरोग और स्वस्थ रखना, बस्ती, धौति, नेती आदि तथा औषधि से शरीर शोधन करना- बाह्य शौच है।

आभ्यन्तर शौच- ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलों को मैत्री आदि से दूर करना, शुद्ध विचारों से बुरे विचारों को दूर करना।

संतोष- भगवान् मनु संतोष की व्याख्या करते हुए कहते हैं- इन्द्रियों को वश करने के हेतु सदैव मन में संतोष धारण करे क्योंकि संसार में सुख का मूल संतोष है और दु:ख का मूल असंतोष है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार उचित प्रयत्न के पश्चात् जो फल मिले या जिस अवस्था में हो उसमें प्रसन्नचित्त रहना और सब प्रकार की तृष्णा को छोड़ देना संतोष है। सत्त्व के प्रकाश में चित्त की प्रसन्नता का नाम संतोष है; परन्तु तम के अन्धकार में चित्त का आलस्य तथा प्रमादरूपी आवरण द्वारा प्रेरित संतोष संतोष नहीं है, इसे तुष्टि कहा गया है। जैसे काल-तुष्टि वह है जब मनुष्य यह सोचकर यत्न नहीं करता कि समय आने पर अपवर्ग स्वयं प्राप्त हो जाएगा। भाग्यतुष्टि में मनुष्य भाग्य के सहारे हाथ पर हाथ रखकर बैठा रहता है।

तप- शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अभ्यास से वश में करना तप है। इससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दु:ख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सब द्वन्द्व-अवस्था में बिना विक्षेप के साधक योगमार्ग पर आरुढ़ रहता है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातु का मल भस्म हो जाने पर उसमें स्वच्छता और चमक आ जाती है। उसी प्रकार तप की अग्नि से शरीर-इन्द्रियों आदि का तमोगुणी आवरण नाश हो जाने पर

उनका सत्त्वरूपी प्रकाश बढ़ जाता है।

स्वाध्याय- वेदादि सत्-शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकार सहित गायत्री आदि मंत्रों का जप स्वाध्याय है। गायत्री-मंत्र का जाप अत्यंत श्रेयस्कर है। गायत्री से बढ़कर पापकर्मों का शोधक (प्रायश्चित्त) दूसरा कुछ भी नहीं है। प्रणव (ओंकार) सहित तीन महाव्याहृतियों से युक्त गायत्रीमंत्र का जाप करना चाहिए(संवर्त० २/४)।

ईश्वर प्रणिधान- फलसहित सब कर्मों को भगवान् के समर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है, महर्षि व्यासदेव जी ने ईश्वरप्रणिधान इस प्रकार बताया है कि- जो योगी शय्या तथा आसन पर बैठा हुआ या मार्ग में चलता हुआ या एकान्त में स्थित हुआ हिंसादि वितर्करूप जाल को नष्ट किये हुए ईश्वरप्रणिधान करता है, वह संसार के बीज अविद्या आदि क्लेशों के क्षय का अनुभव करता हुआ नित्य परमात्मा में युक्त हुआ अमृत के भोग का भागी होता है अर्थात् जीवन्मुक्त के सुख को प्राप्त होता है।

सब नियमों में ईश्वरप्रणिधान मुख्य है तथा सब नियमों को ईश्वरसमर्पण रूप से करना श्रेयस्कर है।

आसन- स्थिरसुखमासनम्- जिस रीति से निश्चल होकर बिना हिले-डुले और सुख के साथ बिना किसी प्रकार के कष्ट के दीर्घकाल तक बैठ सके, वह आसन है। आसन कई प्रकार के हैं, जो शरीर को स्वस्थ रखते हैं। जैसे- स्वस्तिकासन, सिद्धासन, समासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, वीरासन, गोमुखासन, वज्रासन। मुद्राएँ एवं बन्ध भी साधनापथ में सहायक सिद्ध होते हैं।

प्राणायाम- इस आसन के स्थिर हो जाने पर श्वास एवं प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है। श्वास-प्रश्वास की गतियों का प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा बाह्याभ्यन्तर दोनों स्थानों में रोकना प्राणायाम कहा जाता है। योगियाज्ञवल्क्य (६/३) के अनुसार प्राण और अपानवायु के मिलाने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम कहने से रेचक, पूरक और कुम्भक की क्रिया समझी जाती है। प्राणायाम की क्रियाओं की भिन्नता से कुम्भक के आठ अवान्तर भेद हैं जैसे सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली भस्त्रिका, भ्रामरी, मुर्छा और केवली।

प्राणायाम का फल इस प्रकार बताया है कि प्राणायाम से प्रकाश का आवरण (विवेक-ज्ञान का पर्दा) क्षीण हो जाता है। पंचशिखाचार्य के अनुसार- प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है। दूसरा फल है- प्राणायाम में मन स्थिर होता है, उसमें धारणा की योग्यता प्राप्त होती है।

प्रत्याहार- इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना प्रत्याहार है। प्रत्याहार का अर्थ है, पीछे हटना, विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रियां अपने बहिर्मुख से पीछे हटकर अन्तर्मुख होती हैं। यम, नियम, प्राणायामादि के प्रभाव से चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होकर

समाहित होने लगता है, तब इन्द्रियां भी अन्तर्मुख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्त के निरुद्ध होने पर चित्त भी निरुद्ध हो जाता हैं। यही उनका प्रत्याहार है। इस प्रकार चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों को जीतने के लिये अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। कठोपनिषद् में कहा गया है कि- स्वयम्भू ने (इन्द्रियों के) छेदों को बाहर की ओर छेदा है अर्थात् इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है अपने अन्दर नहीं देखता। कोई विरला धीर पुरुष अमृत को चाहता हुआ आंखों अर्थात् इन्द्रियों को बन्द करके (अन्तर्मुख होकर प्रत्याहार द्वारा) अन्तर् आत्मा को देखता है।[क]

प्रत्याहार का फल इस प्रकार बताया गया है- **''ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्''** अर्थात् उस प्रत्याहार से इन्द्रियों का उत्कृष्ट वशीकरण होता है। इस प्रकार यम-नियमों से बीजभाव को प्राप्त करता हुआ आसन, प्राणायाम आदि से अंकुरित होने पर प्रत्याहार से पुष्पित होकर योग, धारणा, ध्यान और समाधि से फलित होता है।

प्राचीन काल में गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का प्रचलन था पश्चिमी शिक्षापरिपाटी से आज युवक केवल वेतनभोगी क्लर्क आदि बनते हैं, जबकि प्राचीनकाल में युवक ब्रह्मज्ञानी बनने थे, वे ब्रह्मचारी देशभ्रमण और धर्मप्रचार करते थे। योग से अर्जित एकाग्रता द्वारा हमारे बालक शतावधानी बनते थे। वे एक ही समय १०० कार्य कर सकते थे। समस्यापूर्ति कवियों के लिये सरल कार्य था। मस्तिष्क की शक्तियों का चरम विकास हमें ज्ञात होता वेदों के संरक्षण में यही कारण है कि सहस्रों वर्षों के बीत जाने पर भी वेदमंत्र अभी तक सुरक्षित हैं, एकमात्रा एवम् अक्षर भी विस्मृत नहीं हुआ। संसार की अन्य जातियों में ऐसा चमत्कारिक उदाहरण एक भी नहीं मिलता क्योंकि वहां योगविद्या को नहीं अपनाया गया था। अतः निष्कर्षतः यह लिखा जा सकता हैं कि योग पर आधारित शिक्षाप्रणाली न केवल बालकों को मेधावी बनायेगी प्रत्युत उनका सर्वांगीण विकास करती हुई, उन्हें दैवी-शक्तियां प्रदान करेगीं। हमारा तो यह दृढ़ अभिमत है कि संसार में सुख-शान्ति, मैत्री एवं भ्रातृभाव के प्रसार का एकमात्र उपाय 'योगशिक्षा' ही है।

-# ३२०, २१-ए, सैक्टर, चण्डीगढ़-१६००२२।

क. कठोपनिषद्-२/४/१.

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523 विश्वज्योति वर्षः ६९, सं.११
फरवरी, २०२१

योगवासिष्ठ में आत्मतत्त्व

– डॉ. शम्भु कुमार झा

भारतीय मनीषियों के लिए आत्मतत्व-विवेचन एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। उपनिषद् में आत्मा को रहस्य माना गया है। आत्मा बहुत हद तक प्रतिपादन का विषय नहीं होकर अनुभव का विषय है। आस्तिक व नास्तिक दोनों ही आत्मोन्वेषण में तत्पर दिखाई पड़ते हैं। किसी न किसी रूप में आत्मवाद को सब स्वीकार करते हैं, या तो देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, पुत्रात्मवाद, मनोआत्मवाद या फिर सर्वव्यापक आत्मवाद के रूप में। सर्वप्रथम 'आत्मा' शब्द का विश्लेषण आवश्यक है।

आत्मा सबको प्रिय है माता, पिता, पशु सब ही आत्मा से प्रेम करते है-

नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति....

योगवासिष्ठ में आत्मतत्व पर पूर्णरूप से प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण योगवासिष्ठ किसी न किसी रूप में आत्मविमर्श में ही लिप्त है। महर्षि वाल्मीकि ने वैराग्यप्रकरण में द्वितीय सर्ग के प्रथम व द्वितीय श्लोक के द्वारा आत्मतत्त्व पर प्रथम दृष्टिपात किया है- द्युलोक में आकाश में भूलोक में आभ्यन्तरबहिर् दोनों में निर्विकार रूप से जो परमतत्त्व प्रकाशित है, वही विभु सर्वात्मा है, उसे नमस्कार है।[1]

योगवासिष्ठ ग्रन्थ को अत्यन्त अज्ञानी पढने का अधिकारी नहीं है, क्योंकि उसे अपने शरीर में दृढ़ अनुराग है, जो देह को आत्मा मान बैठा है, उसे संसार वासना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई देता है। जो ज्ञानी है, वह भी इस शास्त्र को पढ़ने का अधिकारी नहीं क्योंकि वह कृतकृत्य हो चुका है। आत्मदर्शन के बाद ग्रन्थ पढ़ने की लिप्सा नहीं रहती है तो फिर कौन अधिकारी है?, जो अपने आप को अनादिकाल से कारागार अथवा पिंजरे में बन्द पक्षी के समान समझता है, जो जन्ममरणजन्य दुःख की असहनीय वेदनाओं को समझ गया है और सर्वदा के इस-इस कष्ट से विमुक्त होना चाहता है, उसके लिए आत्मज्ञान ही सर्वोत्तम उपाय है; क्योंकि श्रुति कहती है- **''तरति शोकमात्मवित्''** इस उत्कट जिज्ञासा को जिसने वरण कर लिया है, वही विनम्र जन इस शास्त्र का अधिकारी है।

वासना ही मनुष्य के बन्धन में कारण है। यह वासना द्विविधा कही गयी है। शुद्धा व मलिना। मलिना वासना जन्म का कारण और शुद्धावासना जन्म का विनाश करने वाली है और सम्पूर्ण रूप

१. वैराग्य, २.१.

से वासना का त्याग ही मोक्ष का कारण होता है।

उपनिषद् की भाषा में ''प्रज्ञानं ब्रह्म'' तदेवात्मा-जिसे कहा गया है। वाल्मीकि उसे अन्त:प्रज्ञा कहकर आत्मरूप में स्वीकार करते हैं। प्रज्ञारूपी अनुपमेय दीपक जिसके अन्त:करण में प्रकाशित होता है, वही पुरुष है (पुमान्) अन्य तो पुरुषार्थ में असमर्थ होने के कारण स्त्रीप्राय हैं। उक्तप्रज्ञा से हीन मानव रक्तमांसास्थिमय देह को परमतत्त्व मानकर इन्द्रियजन्य विषयों का भोग करता है। वह चार्वाक के समान देहात्मवादी है वह सचेतन आत्मा को नहीं जानता।[२]

श्री शुकदेवजी ने जनक से कहा- हे ऋषिवर! इस संसार मे जो मन भ्रमित हो रहा है उसका विश्राम किस उपाय से हो सकता है। जनक जी बोले, हे प्राज्ञ! सनातन चित्त स्वरूप 'आत्मा' ही एक ज्ञातव्य है, जो अपने ही संकल्प से बद्ध और संकल्पहीनता से मुक्त होता है।[३]

जब मन में कुछ भोगने की इच्छा होती है तो व्यक्ति भोग के वशीभूत होकर लक्ष्य से विचलित हो जाता है। जीवन्मुक्त होने के लिए भोगों को पूर्णत: छोड़ना होगा।

भुवि भोगा न रोचन्ते, स जीवन्मुक्त उच्यते।।

(मुमुक्षु ३-८)

हमेशा मनुष्य को 'ज्ञेय' को जानने का प्रयास करना चाहिए 'ज्ञेय' केवल आत्मा है। विषयों से मुक्त होने का यही सर्वोत्तम उपाय है।[४]

गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है- श्रेष्ठ आत्मतत्व को समझ लेने पर व्यक्ति का विषय-रस समाप्त हो जाता है। मुमुक्षु प्रकरण में राम और वशिष्ठ का संवाद आत्मतत्व पर प्रकाश डालता है। वशिष्ठ ने कहा मन को समरस में करके गुरूपदिष्ट शास्त्रोपदेश को आत्मा में संनिहित करने से सुख-दु:ख का नाश हो जाता है वही परमानन्द है। मुनिवर वशिष्ठ के वचन को सुनकर श्रीराम पुन: जिज्ञासा करते हैं- हे वशिष्ठ जी महाराज! आपने इस ज्ञान को कहाँ से प्राप्त किया। वशिष्ठ बोले- अनन्तानन्तमायिक विलासों का अधिष्ठाता आत्मा है। जो सब जगह सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सभी प्राणियों में प्रदीप के समान है। माया उनकी अनुचरी है, जो उनके कार्यों को द्योतित करवाने वाली है। वह स्वयं निर्विकार है।[५]

आत्मतत्त्व जिज्ञासु को चाहिए कि मन को बस में करके उपदेश सुने। अविवेकी, अज्ञानी, असज्जन से हमेशा दूर रहे, क्योंकि सज्जन के सम्पर्क से विवेक का उदय होता है। विवेकरूपी वृक्ष के ही भोग और मोक्ष दो फल कहे गए हैं। मोक्षरूप फल को प्राप्त करने के लिए चार द्वारपाल का सामना करना पड़ता है- शम, विचार, संतोष और साधुसंगम इन चारों का विधिपूर्वक सेवन करे अथवा दो या तीन का सेवन भी कर सकते हैं। यह संसार तो विषवृक्ष के समान है।[६]

आत्मतत्त्व विवेचन प्रसंग में वसिष्ठ में

---

२. वैराग्यप्रकरण, ३३,३४,३५. ३. मुमुक्षु, सर्ग १ श्लोक ३६. ४. मुमुक्षु २-९.

५. वही- १०-११. ६. वही, ११- ५८,५९.

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" इस उपनषिद्-वाक्य को ध्यान में रखकर बहुत ही सटीक श्लोक उदाहृत किया है- स्थाणु (जड़मूल) से विहीन तरु के समान अचेतन शरीर रथ है। इन्द्रियों का विषय के प्रति अभिगमन अश्वों की गति के समान है। प्राणधन प्रग्रह (लगाम) के समान है। आनन्दरूप विषय को प्राप्त जो मन वह आत्मा समाधि में परमात्मा है, व्यवहार में बुद्धि उपाधिवाला है।[७]

आत्मतत्त्व को दृष्टि में रखकर जो व्यक्ति इस संसार में विचरण करता है वह कभी भी किसी कर्म के फलाफल से बाधित नहीं होता। उसे किसी तरह के पक्षपात से कुछ लेना-देना नहीं रहता। वह सर्वदा सर्वत्र सुख का ही अनुभव करता है। इसलिए प्राज्ञ पुरुष को चाहिए कि हमेशा आत्मोपासना में लीन रहे।[८]

योगवासिष्ठ के अनुसार जिस ब्रह्मा, विष्णु आदि को हम सब परमेश्वर कहते हैं वे भी आत्मतत्वज्ञान से ही परमेश्वर बने हैं। आत्मस्वरूप का चिन्तन-मनन सत्शास्त्र के सेवन से संभव है।[९]

यह आत्मब्रह्म महाप्रलय में भी विनष्ट नहीं होता। यह अजर, अनन्त विज्ञानमात्र है। न इनकी कोई वासना या उपाधि है, इसलिए इसे निरुपाधि कहा जाता है। यही अनादि ब्रह्म सबका कारण है परन्तु इनका कोई कारण नहीं है।[१०]

उस आत्मा का वर्णन करने में वाणी असमर्थ है। जो मुक्तों का विषय है जिसे 'आत्मा' कहा जाता है। जिसे सांख्यवादी पुरुष के नाम से वेदान्ती-ब्रह्म नाम से बौद्ध शून्य नाम से क्षणिक विज्ञानवादी जैन-विज्ञान के नाम से जानते है।[११]

उस आत्मब्रह्म के अन्वेषण में हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, वह सर्वदेहस्थ है। देहस्थ का अर्थ यही नहीं कि वह देहपरिमाण वाला है। वह सबका अधिष्ठान विश्वरूप है। वह केवल कार्यात्मक विश्वरूप नहीं अपितु, कारणरूप विश्व है। वह चिन्मात्र है, उसे ही योगवासिष्ठ की भाषा में "जीव" कहा गया है।[१२] भगवती श्रुति कहती है-

अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

यह आत्मा स्थूल, सूक्ष्म कारणाख्य देहरहित है। उसे प्रिय व अप्रिय संसर्ग नहीं होता। उस आत्मतत्त्व को समझने से मूल अज्ञान का नाश होता है। उसके नाश होने से अज्ञान का जो कार्य है उसका अन्त हो जाता है अर्थात् हृदय की ग्रन्थी खुल जाती है और सब संशय का अभाव हो जाता है।[१३]

परमात्मा सद्रूप है (यत् खलु प्रमाणैर्यथा-वगम्यते तत्तथैव सत् न रूपान्तरेण) यह आकाश के समान सर्वव्यापी है। यह योगवासिष्ठ आत्मज्ञान का ही शास्त्र है।[१४]

---

७. मुमुक्षु प्रकरण सर्ग- १२-२२ ८. मुमुक्षु- १३-१०. ९. मुमुक्षु- १३-२१.
१०. उत्पत्तिप्रकरण सर्ग-३-९,१०. ११. यो. वा. उत्पत्तिप्रकरण ६-५,६. १२. वही, उत्पत्ति ७-७.
१३. वही, ७-१०. १४. वही, ८-८.

'तुरीय आत्मा' हो जाता है। तुरीय एक (चतुर्थ अवस्था) दार्शनिक शब्द है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के अतिरिक्त यह सबसे उत्तमावस्था है। 'तुरीयमेव केवलम्' इसको जीवन्मुक्त कहा गया है। वह शोक, मोह, मरणादि से पृथक् हो जाता है। जैसे घट के टूटने पर घटाकाश की क्षति नहीं होती वैसे ही शरीर छूटने पर आत्मा पर प्रभाव नहीं पड़ता।[१८]

उपशम प्रकरण में ३५, ३६वें अध्याय में आत्मतत्त्व का विस्तार से वर्णन आता है। प्रह्लाद कहते हैं ॐकार को चित्त में अवस्थित करके विकारों से रहित होकर जगत् की प्रत्येक वस्तु को आत्मभाव से देखना चाहिए। मोहभाव का त्याग होना आत्म लाभ है। आत्मा को प्राप्त किया जाता है और यह नियम, साधन से सम्भव है। जब तक वह प्राप्त नहीं है, तब तक अभक्त जन्म-मरण से दु:खित होता है। जो आत्मप्राप्त भक्त है, उनकी रक्षा होती है।[१९]

निर्वाणप्रकरण पूर्वार्द्ध ग्यारहवें सर्ग के ६५वें श्लोक में कहा गया है कि आत्मतत्त्व समस्त में समस्त आत्मा में विद्यमान है, वही परब्रह्म है।

वसिष्ठ निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में राम को कहते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा का जगत् के साथ सम्बन्ध होता है। मृत पुरुष का प्राण निकल जाता है, यह लोक-वेद प्रसिद्ध है। प्राण के अन्दर और चित्त के अन्दर जगत होता है। मनुष्य के मरने के बाद शरीर से नि:सृत प्राणवायु बाह्य आकाश में पूर्णवायु के साथ मिलता है। आकाशवायु से आकृष्ट होकर वह जगत भी प्राणों के साथ इतस्तत: भ्रमण करने लगता है। जगत की गुरुता भी आकाशवायु के समान लघुरूप होकर वहने में समर्थ हो जाता है।[२०]

समष्टिजीव मोक्षपद को प्राप्त है, जो अनन्त चेतनाकाश है जो प्राणों को धारण करता है जो चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा चेतनायुक्त है, उसी का अपर नाम जीव है। समष्टि व व्यष्टि जीव का व्यावहारिक भेद है। समष्टि जीव सत्यसंकल्प होने के कारण जब जहाँ जैसे चाहता है, वैसे ही होता है परन्तु व्यष्टि जीव जहाँ रहता है, तदनुसार कार्य करता है।[२१]

वह जीव अपनी अनन्तता को भूल जाता है और अपने आपको जड़ सत्तावाला ही समझने लगता है। शीघ्र ही वही जड़ता जीव को वरण कर लेती है। उस जड़ शरीर में भोग करने के लिए मन सहित इन्द्रियपञ्चक होते हैं। इनके पांच विषय होते हैं। इसमें मन को अनन्ताकार कहा गया है। मन रूप वह आत्मा है जो किसी भी प्रकार से दोषावह नहीं है। यह वेदान्त के पञ्चीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। समष्टिरूप में तो वह सदाशिव शान्त है।[२२]

यह आत्मतत्त्व गतिमान् व स्थिर स्वयं होता है। विकसित एवं संकुचित भी स्वयं होता है। सब प्रकार से यह स्वतन्त्र है। यह व्यष्टिगत जीव हाथी व चींटी के शरीर में तद्रूप होता है। व्यवहारत: ये

१८. यो. वा. उत्पत्ति १२२-४४. १९. वही, उपशम ३६-३. २०. वही, निर्वाण उत्तरार्द्ध १८-६.
२१. योग. वा. तात्पर्यटीका. २२. वही, निर्वाण १९-१८.

प्रक्रियाएं सत्य हैं। पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी नहीं है। इनके आठ अंग कहे गए है- पांच ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, मन व अहंकार।[२३]

व्यष्टिरूप जीव की उत्पत्ति में चन्द्रमा को कारण माना गया है। चन्द्रमा के अमृतत्त्व से अन्नादि और अन्नादि से शुक्र-शोणितरूप जीव की उत्पत्ति है। उस चन्द्रमण्डल को सम्राट् जीव कहा गया है।[२४]

इच्छाओं को नियन्त्रित करना चाहिए। जैसे-जैसे इच्छाओं का शमन होता है। वैसे-वैसे वह जीव कल्याण की ओर अग्रसर होता है। यदि निर्विवेकी आत्मा की इच्छाएँ पूर्ण की जाती हैं तो संसाररूपी विषवृक्ष का सेचन के समान सर्वनाश की ओर अग्रसर होना है।[२५]

स्वभावोचित विवेक वैराग्यादि का सम्यक् अभ्यास ही आत्मरूप परमेश्वर की सर्वोत्कृष्ट पूजा है। इस पूजा के लिए बाह्य (भौतिक) सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। विवेकरूप सम्पूर्ण उपहार से ही आत्मपूजन अपेक्षित है। इस पूजन से संतुष्ट आत्मरूप परमात्मा शीघ्र ही निरतिशय आनन्दरूप वर प्रदान करता है। बाह्य देवता (रुद्र, वरुण, सूर्य आदि) की पूजा यहाँ सामान्य हो जाती है। शास्त्रकार ने इस पूजा का 'तृण' शब्द से व्यवहार किया है। अर्थात् आत्मपूजा के सामने अन्य पूजा तुच्छ है इसलिए अपनी आत्मा ही परमेश्वर हैं।[२६]

उस आत्मदेव से प्रेरित होकर विवेकरूपी दूत अधिकारी के हृदयकन्दरा में आकर वास करता है, जब तक ज्ञान स्थिर होता है। वही जगत्- प्रसिद्ध बोधात्मा ही आन्तरात्मा है। वह वासनात्मा कदापि नहीं है, वही परमेश्वर है। प्रणव (ॐकार) इसी का वाचक है। वह सर्वत्र सर्वेन्द्रिय वाला है। वास्तविक रूप से भौतिक इन्द्रियाँ नहीं, अपितु दिव्यगुण स्वभाव वाली इन्द्रियों को जिन्हें यजुर्वेद में इस प्रकार कहा गया-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहु-रुतविश्वतस्पात्।

संसार सागर से पार होने के लिए विवेक को एक पोत कहा गया है।[२७]

विवेकी पुरुष बहुत कम होते हैं। वृक्ष तो बहुत है, परन्तु कल्पद्रुम विरला होने से कही-कही मिलता है।[२८]

योगावासिष्ठ का सन्देश है कि- आत्मा ही सर्वाधार है। वेदादिशास्त्रों का प्रतिपाद्य है। गुरुपदेश से वही ज्ञातव्य है, वह द्वन्द्वमुक्त परम शिव है-

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं,
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्री वासिष्ठं नताः स्मः।।

-प्रवक्ता, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, टोंक, राजस्थान -३०४०२२

२३. यो.गा.निर्वाण १९-३१.   २४. वही, ३६-४३,४४.   २५. वही, निर्वाण उत्तरार्ध, ४२-२८,२९,३०.
२६. वही, निर्वाण, ८-३९.   २७. वही, ९७-४७.   २८. योगवासिष्ठ- अन्तिम श्लोक

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523
फरवरी, २०२१

अपने जीते जी अपनी संपत्ति बच्चों के नाम न करवाना अनैतिक अथवा अव्यावहारिक नहीं

–श्री सीताराम गुप्ता

अधिकांश व्यक्ति जब सेवानिवृत्त हो जाते हैं अथवा अपना कारोबार आदि करना बंद कर देते हैं तो प्रायः अपना व्यवसाय आदि बच्चों के हवाले कर देते हैं। कुछ लोग अपनी जीवनभर की बचत अथवा कुल जमा पूँजी भी बच्चों को दे देते हैं व अपनी समस्त चल-अचल संपत्ति भी उनके नाम करवा देते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं क्योंकि बाद में ये सब उन्हीं को तो मिलना होता है। लेकिन इसके बावजूद सेवानिवृत्त अथवा वृद्ध व्यक्तियों द्वारा अपने जीते जी सारी संपत्ति बच्चों के नाम करवा देना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि हर काम उचित समय पर किया जाना ही लाभप्रद होता है। किसी भी कार्य में जल्दबाज़ी ख़तरनाक हो सकती है। किसी दबाव में आकर ये काम करना तो बिल्कुल भी उचित नहीं। जब मरने के बाद सारी संपत्ति बच्चों को ही मिलनी है तो फिर जीते जी सारी संपत्ति बच्चों के नाम करवाने का क्या औचित्य हो सकता है?

यदि कोई व्यक्ति अपने जीते जी अपनी सारी संपत्ति बच्चों के नाम करवा देता है तो इससे भविष्य में उसके लिए कई समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं। सबसे मुख्य बात तो ये है कि जब व्यक्ति के पास कुछ भी नहीं होगा तो उसे स्वयं कमतरी का अहसास होने लगेगा। उसे हर बात के लिए बच्चों का मुँह तकना पड़ेगा। वो अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर पाएगा। ऐसे में उसका आत्मविश्वास समाप्त हो जाएगा और व्यक्तित्व भी धूमिल पड़ने लगेगा। कुछ लोगों को जैसे ही माता-पिता की संपत्ति मिलती है उनका व्यवहार बदल जाता है। संपत्ति हस्तांतरण के बाद अथवा नकद पैसा मिल जाने के बाद उनकी प्राथमिकताएँ बदल जाती हैं। जल्दी ही वे माता-पिता में कमियाँ निकालना शुरू कर देते हैं। कुछ लोग न केवल उपेक्षा से पेश आने लगते हैं अपितु माता-पिता का अपमान तक करने लग जाते हैं।

कई निकम्मे लोग तो माता-पिता की संपत्ति मिलते ही उन्हें घर से बाहर कर देते हैं। सुविधाओं की बात छोड़िए वे दाने-दाने को मुहताज हो जाते हैं। बुढ़ापे और बीमारियों के कारण कइयों की दशा और भी शोचनीय हो जाती है। कई लोग माता-पिता के अशक्त होते ही उन्हें किसी वृद्धाश्रम में छोड़ आते हैं या बूढ़े माता-पिता बच्चों के दुर्व्यवहार से परेशान होकर स्वयं ही किसी वृद्धाश्रम में चले जाते हैं। वृद्धाश्रमों की बढ़ती संख्या इस बात का प्रमाण है कि इस प्रकार के बच्चों की संख्या बढ़ती जा रही है जो वृद्धावस्था में अपने माता-पिता की ठीक से देखभाल नहीं करते व उनकी संपत्ति लेने के बाद भी उन्हें दर-दर की ठोकरें खाने के लिए विवश कर देते हैं। जब हम अपने चारों ओर इस प्रकार की घटनाएँ घटित

होते हुए देखते हैं तो हम सचेत क्यों नहीं रहते? हम क्यों अपनी संपत्ति बच्चों के हवाले करके खुद अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं?

वास्तव में माता-पिता अपने बच्चों से बहुत प्यार करते हैं और उन पर पूरा विश्वास भी करते हैं। वे सपने में भी नहीं सोच सकते कि उनके बच्चे उनके साथ ग़लत व्यवहार कर सकते हैं। प्राय: सभी का ये कहना होता है कि उनके बच्चे औरों के बच्चों जैसे नहीं हैं। वास्तविकता तो ये है कि हमारे बच्चे कितने भी अच्छे क्यों न हों औरों की तरह ही उनके बदलने में भी देर नहीं लगती। जब तक हाथ में सब कुछ है तब तक तो सब भले ही बने रहते हैं। वास्तविकता का पता तो खाली हाथ होने पर लगता है। कुछ लोग तो माता-पिता का पैसा व संपत्ति पाने के लिए ही बहुत अच्छे बन जाते हैं। ऐसे कलाकारों से बचना भी असंभव होता है अत: व्यावहारिकता का पालन करना अनिवार्य है।

यदि अपना बुढ़ापा ख़राब नहीं करना है तो ज़्यादा भावुक होने की बजाय विवेक से काम लेना अनिवार्य है। किसी भी सूरत में बच्चों की चिकनी-चुपड़ी बातों में न आएँ। याद रखिए अपने जीते जी अपनी संपत्ति बच्चों को न देना न तो अनैतिक है और न अव्यावहारिक ही है। आपके जीते जी संपत्ति के बँटवारे के लिए न तो कोई नैतिक रूप से और न ही कानूनी रूप से आपको विवश कर सकता है। यदि आपने अपनी संपत्ति का बँटवारा कर दिया है और इसके बाद बच्चे आपकी ठीक से देखभाल नहीं करते अथवा दुर्व्यवहार करते हैं तो आप अपनी संपत्ति वापस ले सकते हैं लेकिन इसके लिए न्यायालय की मदद लेनी पड़ेगी। क्योंकि ये उम्र न्यायालयों में धक्के खाने की नहीं होती अत: अपनी संपत्ति का बँटवारा करने से पहले भली-भाँति विचार कर लेना अनिवार्य है।

* भविष्य में किसी भी प्रकार की परेशानी से बचने के लिए कुछ चीजें ज़रूरी हैं। अपने जीते-जी अपनी संपत्ति बच्चों के नाम न करवाएँ और न ही अपनी बचत अथवा जमापूँजी ही उनके हवाले करें। जब तक आप संपत्ति के स्वामी हैं तब तक घर में आपकी अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति बनी रहेगी इसमें संदेह नहीं।

* लेकिन इसका अर्थ ये नहीं है कि यदि कोई बच्चा संकट में है तो आप उसकी मदद न करें। यदि आपके पास पर्याप्त संपत्ति अथवा पैसे हैं और आपके बच्चों की स्थिति ठीक नहीं है तो ऐसे में उनकी मदद न करना बहुत बुरी बात होगी। यदि बच्चे किसी भी प्रकार के संकट में हैं तो उनकी हर संभव मदद करें लेकिन अपनी स्थिति किसी भी स्थिति में दयनीय न होने दें।

* घर में अपने रहने के लिए उचित स्थान का चयन करें व अपने लिए पर्याप्त स्थान जैसे कमरा व शौचालय आदि सुनिश्चित करें। अपने रहने के स्थान को स्टोर या कूड़ाघर न बनने दें। कभी भी घर के बेकार स्थान अथवा उपेक्षित कोने में अपना ठिकाना न बनाएँ। हमेशा अधिकारपूर्ण रवैया बनाए रखें।

* दूसरों पर अत्यधिक निर्भर रहने की बजाय आत्मनिर्भर रहने का प्रयास करें। यथासंभव न केवल अपना काम स्वयं करने का प्रयास करें अपितु घर के दूसरे सदस्यों के लिए भी जो संभव

हो अवश्य करें। परिवार के लिए अपनी उपयोगिता कभी कम न होने दें। ये तभी संभव है जब आप रोगमुक्त व स्वस्थ रहें। इसके लिए अपने स्वास्थ्य की अच्छे से देखभाल करें।

* बच्चे यदि आपकी संपत्ति बेचकर बड़ी संपत्ति लेना चाहते हैं तो वो उनके नाम से नहीं अपितु अपने नाम से लें। यदि ये संभव न हो तो संयुक्त नाम से लें और उसमें भी अपने लिए पर्याप्त व सुविधाजनक स्थान सुनिश्चित कर लें। यदि ऐसा भी संभव न हो तो कोई अन्य संपत्ति अपने नाम करवा लें।

* चालाक बेटे व बहुएँ प्रायः बड़ी संपत्ति अथवा मकान या दुकान खरीदने के नाम पर पुरानी संपत्ति बिकवा देते हैं और नई संपत्ति अपने नाम से खरीद लेते हैं। ऐसी स्थिति में सब तो नहीं लेकिन बहुत सारे लोग बाद में अपने बूढ़े माता-पिता की उपेक्षा करना व उनसे दुर्व्यवहार करना शुरू कर देते हैं।

* अपनी पूरी बचत अथवा जमा पूँजी बच्चों के हवाले न करें। जब तक आपकी स्वयं की आर्थिक स्थिति अच्छी है आप बहुत अच्छे हैं। बिल्कुल पैसा पास न होने पर भी व्यक्ति अपने आपको असहाय महसूस करने लगता है। ऐसी स्थिति न आने दें। यदि आपकी आर्थिक स्थिति अच्छी है तो आप मनचाही सुविधाएँ पा सकते हैं।

* ये भी असंभव नहीं कि आपके बच्चों के पास सचमुच समय की कमी हो और वे आपकी देखभाल के लिए पर्याप्त समय न निकाल सकें। ऐसे में आप अपनी सुविधा व सहायता के लिए किसी सहायक को रख सकते हैं। यदि आपके पास न पैसा होगा और न संपत्ति ही तो ऐसे में आपकी समस्याएँ बढ़ सकती हैं।

* कई माता-पिता स्वयं अपने लिए कई प्रकार की समस्याएँ निर्मित कर लेते हैं। वे जीते जी अपनी संपत्ति का बँटवारा तो कर देते हैं लेकिन वो बँटवारा पूरी तरह से पक्षपातपूर्ण होता है। कुछ माता-पिता कुल संपत्ति में से अपना हिस्सा भी ले लेते हैं और वो अपने चहेते पुत्र अथवा पुत्री को दे देते हैं। ये सरासर ग़लत बात है।

* जो भाई अथवा बहन गलत तरीके से दूसरे भाई-बहनों की संपत्ति स्वीकार कर लेते हैं उनसे क्या उम्मीद रखी जा सकती है? पहले तो वे माता-पिता के हिस्से के लालच में मीठी-मीठी बातें करते हैं लेकिन जल्दी ही उनका असली रूप सामने आ जाता है। पक्षपात करने वाले माता-पिता सबसे अधिक दुर्गति झेलते हैं।

* आप अपनी संपत्ति किसी के नाम न करवाएँ लेकिन पक्षपात बिल्कुल न करें। बेहतर तो ये होगा कि आप पक्षपातरहित होकर अपनी विल लिखकर रख लें और उसमें स्पष्ट कर दें कि हमारे या मेरे बाद ही संपत्ति का बँटवारा किया जाए। यदि इस प्रकार की कुछ सावधानियाँ रखी जाएँ तो बढ़ती उम्र में बिना वजह परेशानियाँ नहीं खड़ी होंगी और घर में मान-सम्मान भी बना रहेगा।

-ए. डी. १०६-सी, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४। मोबाईल: ९५५५६-२२३२३

महर्षि दयानन्द सरस्वती और हिन्दी

– डॉ. निर्मल कौशिक

भारत में समय-समय पर अनेक महापुरुषों, सिद्धसाधकों, ऋषि-मुनियों ने जन्म लिया। इन महामानवों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए आत्मबलिदान तक दे डाला। अपने तप और त्याग से मानवता का मार्ग प्रशस्त किया। इतिहास साक्षी है कि जब-जब भी मानव-समाज में उच्छृंखलता और उद्दण्डता बढ़ी है तब-तब मानवीय जीवनमूल्यों के संरक्षणहेतु किसी न किसी युगपुरुष का अवतरण हुआ है। भारत में प्रत्येक युग में अनेक महामानवों का उदय हुआ है।[1]

इसी परम्परा में महर्षि दयानन्द का अवतरण भी हुआ था। महर्षि दयानन्द का जन्म संवत् १८८१ में गुजरात के टंकारा नामक ग्राम में एक परम्परावादी ब्राह्मण श्री कर्षण लाल जी त्रिवेदी के घर हुआ; जो कि एक बहुत बड़े भूमिधर थे। स्वामी दयानन्द का पहला नाम मूलशंकर था।[2]

बालक मूलशंकर आरम्भ से ही मेधावी था। चौदह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने बहुत से शास्त्र व ग्रन्थ कण्ठस्थ कर लिये थे। स्वामी जी के पिता शैव धर्म के उपासक थे। उन्होंने एक दिन मूलशंकर से शिवरात्रि का व्रत करने को कहा। वे अपने पिता के साथ शिवालय चले गये। उन्हें समझाया गया कि रातभर जागना होगा। सब लोग सो गये लेकिन स्वामी जी जागते रहे। उन्होंने देखा कि शिवलिंग पर चूहे चढ़ आये हैं और मूर्ति पर चढ़ाई गई मिठाई को खा रहे हैं। इस घटना से स्वामी जी के मन में अनेक शंकाये उत्पन्न हुईं। पिता ने अनेक युक्तियों से समाधान करना चाहा परञ्च बालक का समाधान न हो सका।

कुछ दिन बाद उनकी १४ वर्षीय बहन तथा उनके पूज्य चाचा की मृत्यु ने मूलशंकर के हृदय में सच्चे वैराग्य को पैदा कर दिया। उन्होंने अमरत्त्व को प्राप्त करने के लिये योगधर्म का मार्ग अवलम्बन करने तथा आजीवन विवाह न करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और २२ वर्ष की आयु में विवाह से सुशोभित घर से निकल पड़े।[3]

दो वर्ष निरन्तर भ्रमण के पश्चात् चाड़ोद गांव के समीप दक्षिण के दण्डी स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी से इनकी भेंट हुई। उन्होंने इनको विधिपूर्वक संन्यास की दीक्षा दी। अब ये मूलशंकर से दयानन्द 'सरस्वती' बन गये। संन्यास लेने के बाद अनेक साधु संन्यासियों के दर्शन करने के बाद मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी से इनकी भेंट हुई।[4] स्वामी दयानन्द का

१. रामचरितमानस बालकाण्ड, पृ. ११०. गीता, ४.७-८. २. एन.आर.स्वरूप सक्सेना, शिक्षा सिद्धान्त २०१२ पृ. ३३५.
३. प. रामगोपाल विद्यालंकार, दयानन्द चित्रावली, १९९९, पृ. १०. ४. वही, पृ. १६.

विरजानन्द जी से मिलना 'रत्नं समागच्छ काञ्चनम्' के अनुसार रत्न और सुवर्ण के मेल के समान था। ढाई वर्ष तक स्वामी जी शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। शिक्षा समाप्ति पर वे शिष्यों से लौंग भेट लिया करते थे किन्तु उन्होंने दयानन्द जी से भेंट के रूप में मांगा कि 'तुम संसार में फैले अन्धकार को मिटाकर सच्चे ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित करो। संवत् १९२४ में आप हरिद्वार के कुम्भ के मेले में गये और वहाँ से वैदिक-धर्म का प्रचार आरम्भ किया।[५]

उन्होंने अनेक स्थानों पर जाकर जनता को ईश्वर का वास्तविक रूप समझाया। उनके विचार में ईश्वर विश्वात्मा है, सत्-चित्-आनन्द है वह असीम अमर निराकार व सर्वव्यापक है। वह संसार का जनक और रक्षक है। उन्होंने बाल-विवाह, अनमेल विवाह, जाति-पाति और छूआ-छूत का विरोध किया। अन्धविश्वासों और मिथ्याधारणाओं का खण्डन किया। लोगों को यज्ञोपवीत धारण करवाया, सन्ध्या सिखाई एवं गायत्री का जप बताया और लाखों को अपने सदुपदेश से सन्मार्ग बताया। उन्होंने बताया कि वर्ण, गुण और कर्म से होते हैं, जन्म से नहीं। उन्होंने हजारों हिन्दुओं को मुस्लमान और ईसाई बनने से बचाया।

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार जीवन में सद्व्यवहार ही धर्म है। यह प्यार भ्रातृभाव, निर्धनों तथा दीन-दुखियों के प्रति दया पर आधारित है। उससे मुक्तिप्राप्ति में सहायता मिलती है। शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करते हुए स्वामी जी ने स्त्रीशिक्षा का प्रबल समर्थन किया। उन्होंने कहा कि जिस क्षेत्र में सद्गुरुओं का अभाव हो जाता है और ईमानदार श्रोता नहीं मिलते, वहाँ अन्धविश्वास फैल जाता है। उन्होंने कहा कि गुरु और शिष्य सद्गुणों को ग्रहण करें। गुरु अपने शिष्यों को मन, वचन और कर्म से सच्चा बनाने का यत्न करे। शिष्य आत्मसंयमी, शान्त, गुरु-भक्त, विचारशील और परिश्रमी बने। स्वामी जी ने स्त्री-शिक्षा का प्रबल समर्थन किया और कहा कि जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो ऐसी अवस्था में घर में नित्यप्रति संग्राम मचा रहेगा। उन्होंने घोषणा की कि यह एक बड़ा अन्याय है कि स्त्रियों को घरों के भीतर कैदी की भाँति रखा जाये और पुरुष स्वतन्त्र आते जाते रहें। उन्होंने सहशिक्षा का घोर विरोध किया और कहा कि लड़कों, लड़कियों के स्कूल दो कोस की दूरी पर होने चाहिएं।[६]

शारीरिक शिक्षा के विकास की ओर ध्यान देते उन्होंने कहा कि शारीरिक बल और स्फूर्ति की वृद्धि इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि वह अत्यन्त जटिल और गहन और गम्भीर विषयों को भी ग्रहण कर सकती है। अत: लड़कों और लड़कियों को प्राणायाम करना चाहिए। स्वामी दयानन्द जी ने राष्ट्रीय एकता के लिये जो अपील की थी, हमारे युग में उसका एक विशेष महत्त्व है। उन्होंने कहा भाषायी मतभेदों, सांस्कृतिक हदों और रीति-रिवाजों से उत्पन्न अलगावों को छोड़ना कठिन प्रतीत होता है। जब तक यह काम नहीं किया

५. प. रामगोपाल विद्यांलकार, दयानन्द चित्रावली, १९९९, पृ.२६.

६. एन.आर.स्वरूप सक्सेना, शिक्षा सिद्धान्त १९९९ पृ. ३४०.

जायेगा तब तक पूरा लाभ लेना और लक्ष्य को प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। उन्होंने विदेशी भाषाओं को शिक्षा के माध्यम अपनाने का विरोध किया। उन्होंने कहा कि अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये भारतीय भाषाओं तथा संस्कृत को देश के लोगों द्वारा अपनाया जाना चाहिए।

महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना करके इनके द्वारा वैदिक-धर्म का प्रचार, समाज-सुधार, दलितोंद्धार, आर्यभाषा (हिन्दी) का प्रसार आदि का सूत्रपात किया। प्राचीन भारतीय धर्म और संस्कृति का वास्तविक स्वरूप दिखाकर सच्ची देशभक्ति की भावना उन लोगों में पुनः भरी जो पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में बहे जा रहे थे। इस प्रकार वैदिक धर्म का प्रचार करके समाजसुधार करते हुए वे कई स्वार्थप्रिय व्यक्तियों के कोपभाजन भी बने।

महर्षि दयानन्द आधुनिक भारत के धर्म सुधारक, क्रान्तिकारी, संन्यासी, आध्यात्मिक नेता, योगी, दार्शनिक तथा देशभक्त थे। मानवजाति के हितैषी के रूप में उनका जन्म हुआ। वे राष्ट्रीय स्थिरता, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं विश्वबन्धुत्व के पक्षधर थे।

आधुनिक काल में हिन्दी के विकास की यात्रा किसी से छिपी नहीं है। सभी उपदेशकों, मतमतान्तरों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने हेतु इसी भाषा का आश्रय लिया। ब्रज और अवधी के बाद खड़ी बोली हिन्दी का रूप अत्यन्त तीव्रता से प्रसारित हुआ। प्रारम्भ में स्वामी दयानन्द जी ने भी संस्कृत और गुजराती में अपने व्याख्यान दिए। बाद में अनुयायियों की कठिनाई को देखते हुए उन्होंने हिन्दी को अपनाया। उनका उद्देश्य तो पूरे विश्व में वेदों और सत्य-सिद्धान्तों का प्रकाश करना था। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में कहा है- जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश लिखा था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत में भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया।[७]

यहां भाषा से उनका अभिप्राय हिन्दी भाषा से है। इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि स्वामी जी को अपने देश से बहुत प्रेम था। उन्होंने वेदों का प्रचार करने के लिए पूरे भारत का भ्रमण किया इसके लिए उन्होंने गुजराती होते हुए भी हिन्दी भाषा को अपनाया और अपने ग्रन्थों की रचना हिन्दी में ही की। आर्यमर्यादा पत्रिका के सम्पादक श्री प्रेम भारद्वाज का कथन है कि 'महर्षि दयानन्द गुजरात में जन्में थे, मथुरा में गुरु विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त की तथा जनता में राष्ट्रीयता जगाने के लिए हिन्दी का सहारा लिया। यह उनकी स्वदेशीय का ही प्रमाण था।'[८]

बम्बई में रहते हुए उन्होंने एक छोटा-सा संगठन तैयार कर आर्यसमाज की स्थापना की और साथ ही अपने ग्रन्थों को जनसामान्य की भाषा में रचकर अपनी बात उन तक पहुँचाई।

---

७. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश२०१५, भूमिका।

८. प्रेम भारद्वाज (सम्पादक) आर्य मर्यादा, १६ फरवरी २०२० पृ. ३.

'उन्होंने सत्यार्थप्रकाश एवं वेदों के भाष्य आदि प्रस्तुत कर हिन्दी के माध्यम से जनता से सीधा सम्पर्क स्थापित किया।'[९]

भ्रमण करते-करते स्वामी जी पंजाब पहुंचे। यहां कई स्थानों पर इनका विरोध भी हुआ लेकिन इन्होंने अपना कार्य नहीं छोड़ा। स्थान-स्थान पर वेदप्रचार और कुरीतियों का खण्डन और सत्य का मण्डन होता रहा। पंजाब से चलकर वे राजपूताना के उदयपुर पहुँचे। यहां हिन्दी के विकास के लिए स्वामी जी को आधारभूमि मिल गई थी। उन्होंने उर्दू के स्थान पर जनसामान्य के लिए हिन्दी का प्रयोग प्रारम्भ किया। 'स्वामी जी ने इस स्थान पर क्षत्रिय राजपूतों के एक गुरुकुल खोलने की सम्मति दे दी थी। वहां राजकीय कामों में से उर्दू को निकालकर देवनागरी का प्रचार किया। अरबी के शब्दों के स्थान में संस्कृत के शब्द प्रचलित किए।'[१०]

स्वामी जी ने हिन्दी प्रचार-प्रसारहेतु आरम्भ में ही देशीय(प्रान्तीय) भाषाओं मातृभाषा के साथ-साथ देवनागरी अक्षरों का ज्ञान कराने की बात कही है उनका कहना है कि अन्य भाषाओं के साथ-साथ देवनागरी वर्णों का ज्ञान होने से हिन्दी और संस्कृतभाषा का भी विकास हो सकेगा। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में वे कहते हैं। 'जब पांच-पांच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करो। अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।'[११]

स्वामी जी यह भलीभाँति जानते थे कि संस्कृतभाषा के साथ-साथ हिन्दीभाषा का विकास भी अनिवार्य है। संस्कृत के ग्रन्थों को समझने का सरलतम मार्ग हिन्दी का ज्ञान ही है। दैनिक व्यवहार में सबसे उपयुक्त भाषा हिन्दी ही है। राष्ट्रीय एकता को एकसूत्र में पिरोने वाली भाषा हिन्दी ही है। जब स्वामी जी कलकत्ता पधारे तो वहां उनके भाषण संस्कृत में सुनकर दूसरे विद्वान् उसका अनुवाद हिन्दी में किया करते थे। इसका उद्देश्य था कि उनके अनुयायियों में अधिकांश लोग संस्कृत नहीं जानते थे। बाबू केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से महर्षि दयानन्द ने यह अनुभव किया कि साधारण जनता तक अपने विचार पहुँचाने के लिए हिन्दीभाषा को अपनाना चाहिए। इसके पश्चात् भारतीय जनता की एकता की दृष्टि से महर्षि ने हिन्दीभाषा को अपनाया और सारे ग्रन्थ हिन्दी और संस्कृत में लिखे।[१२]

स्वामी जी के हिन्दी के विकास के योगदान के बारे में डॉ. श्रीमती वसुन्धरा रिहानी ने कहा है कि 'राष्ट्रीय भावना का बीजारोपण करने के लिए ही उन्होंने गुजराती होते हुए भी राष्ट्र के संगठन के लिए हिन्दी-भाषा का प्रचार और प्रसार हिन्दी भाषा में किया और स्व-साहित्य का प्रणयन भी हिन्दी भाषा में किया।'[१३]

---

९. प्रेम भारद्वाज (सम्पादक) विशेषांक आर्य मर्यादा, २३ फरवरी २०२० पृ. १.

१०. पं. रामगोपाल विद्यांलकार, दयानन्द चित्रावली, १९९९ पृ. ५०.

११. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश २०१५ पृ. ३५.

१२. प्रेम भारद्वाज (सम्पादक) आर्य मर्यादा, १५ सितम्बर २०१९ पृ. ३.

१३. डॉ. वसुन्धरा रिहानी, महर्षि दयानन्द सरस्वती, विश्वज्योति, सम्पा. डॉ. त्रिलोकचन्द तुलसी, जून-जुलाई २००२, पृ. १६१.

महर्षिवसिष्ठ ने 'तत्वमसि' इस महाकाव्य का वर्णन निम्नश्लोकों के द्वारा किया है।[15] इसकी व्याख्या में आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती ने लिखा है- कारणं कारणानां- तत्पद वाच्यार्थ का निर्देश है, शून्यमिति- तत् पद लक्ष्यार्थ का, विश्वम् सर्वम्-वेदनमिति अवस्थात्रयद्रष्टत्व-त्वंपद वाच्य का। राम की जिज्ञासा होती है बहुत है या अनन्त है? ऋषि वसिष्ठ कहते हैं हे राम! व्यष्टिगत भेद से यह जीव बहुत लगता है, परन्तु समष्टि के भेद से एक है। वह आत्म-ब्रह्म ही समष्टि-व्यष्टि भेद से दो कोटि वाले दिखाई देते हैं।[16]

जीव को ब्रह्मभाव का सर्वथा चिन्तन करना चाहिए, जिससे वह व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होता रहे। जिस प्रकार ताम्बे को विशेष रसायण के सहयोग से स्वर्णरूप में परिणत किया जाता है-'**ताम्राणामिव हेमता,**

इस आत्मा को पुरुष भी कहा गया है। उत्पत्ति-प्रकरण के चौवनवें सर्ग में देवी का कथन है- त्रिविध पुरुष है- मूर्ख, धारणाभ्यासी, युक्तिमान्। मूर्ख विषयाशयी है; धारणाभ्यासी योगी है जो प्राणवायु को निरोध करता है। युक्तिमान् स्वेच्छा से परकाय-प्रवेश करने में भी सक्षम होता है।[17]

मरने का अर्थ है- शरीर से प्राणवायु का वियोग हो जाना। जब शरीर से वायु निकल जाती है, तो शरीर का स्पन्दन रुक जाता है और उसे मृत कहा जाता है; परन्तु चेतनतत्त्व वासनामुक्त आत्मतत्त्व में अधिष्ठित होता है। जिसमे वासना अवशेष रहती है। वह मुक्त नहीं होता। वही पुनर्जन्म का कारण है। वासनामुक्त होने के लिए योगवासिष्ठ के उत्पत्तिप्रकरण के १२२वें सर्ग भूमिका सात का क्रमिक वर्णन वसिष्ठ के द्वारा किया गया है। किञ्चित् विकसित बुद्धि वाले को चाहिए, इस जन्म अथवा जन्मान्तर के अनुष्ठित कर्म के प्रभाव से सत्संग में तत्पर रहे। सत्संग के प्रभाव से साधन-चतुष्टय-संपत्ति सहित अध्यात्म- शास्त्र का सम्बन्ध सिद्ध होता है, यही प्रथम भूमिका है। विस्तार के भय से सातों का वर्णन सम्भव नहीं है। शास्त्रजन के सम्पर्क से विवेक उत्पन्न होता है। विवेक से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार होता है, फिर वह शुद्धबुद्धि से सम्यक्ज्ञान से वासना का त्याग करते हुए सांसारिक भावना से मन को विरत करता है। सम्यक् ज्ञान के उदय होने से सत्व की उत्पत्ति होती है फिर उसे असंसक्त कहा जाता है और वह कर्मफल से वेष्टित नहीं होता। असत्य बाह्य अर्थ में उनकी बुद्धि प्रेरित नहीं होती क्योंकि वह 'अहं ब्रह्म-अस्मि' की स्थिति को प्राप्त होता है। इस स्थिति में भी वह बहुत ही सावधान होकर स्नान, भोजन, शयन आदि क्रिया उन्मत्त अथवा शिशु के समान परेच्छा से करता है। सूक्ष्माति सूक्ष्म ब्रह्म में एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्लीन चित्त होकर समस्त क्रियाओं को करते हुए भी हमेशा उस कार्यभावना को त्यागता रहता है। स्वयं ही

१५. यो.वा.उत्पत्ति ९-७६. १६. वही १४-३५. १७. वही, ५४-३५.

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523 विश्वज्योति वर्षः ६९, सं.११
फरवरी, २०२१

सत्यं शिवं सुन्दरम्

–श्री सीताराम पाण्डेय

सत्यं तत्वार्थसंपुष्टं शिवं लोकहितार्थकृत्।
सुन्दरं हृदयग्राहि काव्यं काव्यजुषां प्रियम्।।
(कपिल)

तत्व के अर्थ को संपुष्ट करने वाला सत्य है। लोककल्याण के लिए किया जानेवाला कार्य शिव है और हृदय को स्पर्श करने वाले सौन्दर्य है, जो पाठकों को प्रिय लगता है।

यद्यपि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' वाक्य वेदादिमूलक नहीं है, लेकिन भारतीय-संस्कृति की आत्मा में अवस्थित होने के कारण समग्रता में समाहित है। ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजाराम मोहन राय ने सर्वप्रथम भारतवर्ष में ब्रह्मसमाज के अन्तर्गत इसका उल्लेख किया था। उसके बाद बंगलाभाषा के माध्यम से हिन्दी साहित्य में भी यह पूर्णरूप रूप से प्रचलित हो गया। विदेशी लोग भी इस वाक्य को स्वीकार करते हैं। तभी तो यूनान देश के रहने वाले प्रसिद्ध दार्शनिक एवं प्रख्यात तत्व वेत्ता प्लेटो महोदय के द्वारा अपने काव्यादि विषय में कहे गये वाक्य से ऐसा उपलब्ध होता है-"The True The Good The Beauty."

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' वाक्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में नहीं होने पर भी काव्यों, महाकाव्यादि में उन्मुक्तभाव से इसे स्वीकार किया गया है तथा जन-जीवन में समाविष्ट होने के कारण अब यह पूर्णरूपेण प्रचलित हो गया है।

'रसो वै रसः' रस ही ब्रह्म है।[1] कहा गया है कि- रस प्राप्त करने की इच्छा करने वाले इसको प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। जहाँ-जहाँ रस का संचार है वहाँ-वहाँ अत्यधिक माधुर्य और सौन्दर्य रहता है। महाकवि 'मम्मट' ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में काव्य का प्रयोजन बताया है।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमित तयोपदेश युजे।।[2]

काव्य अकल्याण का नाश, तत्क्षण कष्ट से निवारण, पत्नी के समान उपदेश देने वाला, इन पदों में माधुर्य और सौन्दर्य का समन्वय परिलक्षित होता है।[3] में 'भारवि' कवि ने लिखा है- 'सुन्दर और हितकर वचन दुर्लभ है।[3]' वे कल्याणप्रद और सुन्दर वचन के सामंजस्य का समर्थन करते हैं।

'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुपुछविषाणहीनः' साहित्य, संगीत और कला से रहित प्राणी साक्षात् बिना पुंछ और सींग के पशु के समान होते हैं। यहाँ भी साहित्य से सत्य का, संगीत से माधुर्य का और कला शब्द से सौन्दर्य का

१. तैतिरीयोपनिषद्   २. काव्यप्रकाश   ३. किरातार्जुनीयम्, १-४.

समन्वय पाया जाता है।

कोई-कोई सरस्वती के रूप में ज्ञान का प्रतीक पुस्तक से सत्य का, हंस से नीरक्षीर विवेक रूप मंगल (शिवत्व) का वीणा और कमल से सौन्दर्य का समावेश मानते हैं। कोई-कोई आचार्य सत्य में शिव का और शिव में सौन्दर्य का दर्शन अनुभव करते हैं।

उपनिषदों में ब्रह्म को शान्त, 'शिवम्' अद्वैत, इस रूप में प्रतिपादन किया गया है। काव्य को ब्रह्मप्राप्ति का साधन और ब्रह्मगत गुणों के ग्राहक कहा गया है। अतः काव्य में शिव (मंगल) का संकलन अनिवार्य है। ब्रह्म में (सत्-चित् और आनन्द) सच्चिदानन्द नाम से भी सत्य का, शिवत्व का रूप, ज्ञान और आनन्द का ग्रहण किया गया है।[४]

साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'- इन तीनों का मिला-जुला स्वरूप अपेक्षित है। इसके बिना साहित्य की शाश्वतता और सार्थकता संभव नहीं है। जिस महाकाव्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का स्वर समाहित नहीं हो, वह 'महाकाव्य' हो ही नहीं सकता? उनमें से एक का भी अभाव काव्य के लिए हानिकारक है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का उत्तरोत्तर उत्कर्ष (ऊपर उठाने) के लिए अंगीकार किया गया है। काव्य में सत्य से शिव, शिव से सौन्दर्य का महत्व अभीष्ट है।

सत्यमेव पदं ब्रह्म सत्ये धर्मप्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्।।

सत्य ही ब्रह्म है, सत्य पर ही धर्म प्रतिष्ठापित है। सत्य ही वेद है सत्य से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है।

सत्य बोलना चाहिए। प्रिय बोलना चाहिए। किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। यहाँ यह सत्य का और शिव का मिला-जुला अपेक्षित रूप है। उत्तररामचरित में कहा गया कि- सत्य और प्रिय वाणी, कामनाओं को पूर्ण करती है। दरिद्रता को दूर करती है। कीर्त्ति को उत्पन्न करती है, शत्रुओं को विनष्ट करती है। इसी से विद्वान् लोग सत्य और प्रियवाणी को सभी दोषों से रहित, कठोरता रहित शान्त स्वरूप वाली, मंगलों की जननी, कामधेनु के सदृश कहते हैं।[५]

प्रिय और सत्य वचन ही सौभाग्य सूचक है। 'सूनृत' शब्द से सत्य और सुन्दर का ग्रहण किया गया है। 'मातरं मंगलानाम्' इसका ग्रहण होता है। इस तरह 'सूनृत' शब्द में सत्यं शिवं सुन्दरम् का मूल रूप प्राप्त होता है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में सत्य को ब्रह्म माना है। यह वेदान्त का कथन है। महाभारत में कहा गया है- 'अश्वमेधसहस्राणि सत्यस्य वैशिष्ट्यं व्याचक्षते' एक हजार अश्वमेध यज्ञ के बराबर 'सत्य' के महत्व को दर्शाया गया है। तभी तो सत्यवादी युधिष्ठिर ने अपने जीवन में कभी मिथ्यावचन नहीं बोले और सत्य बोलने से कभी नहीं डिगे।

राजा रामचन्द्र जी के वंशज राजा रघु का श्लोगन था- रघुकूल रीति सदा चली आई, प्राण जाये पर वचन न जाई। सत्य बोलने के कारण ही

---

४. माण्डूक्योपनिषद्

५. उत्तररामचरितम्

'राजा रघु' सदेह स्वर्ग चले गये। सत्य बोलने की वजह से ही राजा हरिश्चन्द्र को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के दर्शन हुए और संसार में सत्यवादी हरिश्चन्द्र के रूप में अमर हो गये।

महात्मा कबीर के शब्दों में 'साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप, जाके हृदय साँच है ताके हृदय आप' प्रसिद्ध है।

एवान्स महोदय ने सत्य को संसार का गुरुत्वाकर्षक संस्थापक माना है। संत तुलसीदास का 'रामचरितमानस' में कथन है- 'नहीं असत्य सम पातक दूजा' संसार के सभी प्राणी सत्य पर ही प्रतिष्ठित हैं।

मुख्यत: वैज्ञानिक सत्य का विश्लेषण-वर्गीकरण करते हैं और सौन्दर्य की अनुभूति का परित्याग करते हैं। दार्शनिक लोग सत्य से केवल बुद्धि को प्रभावित करते हैं। उससे हृदय को स्पर्श करने अथवा मन को आनन्दोत्पादक और भावना को जागृत करने में अक्षम पाते हैं।

काव्य में सत्य शब्द से अपने आपको अनुभूति का जनक, कल्पना से अलंकृत और हृदय को स्पर्श कर सत्य को अपनाते हैं। तब सत्य, हृदय को आनंदित करता है सद्भावना को फैलाता है। बृद्धि को विकसित करता है, चित्त को प्रसन्न करता है। अनुभूति का विस्तार करता है और सुसुप्तावस्था में चित्तवृत्ति को जगा कर विकास की ओर ले जाता है।

कवि से सम्मति प्राप्त सत्य, सुन्दरतर, प्राकृतिक और अनुभूति प्रधान होता है। कवि से समर्पित सत्य, सौन्दर्य रहित व्यक्ति नहीं होते। उसकी अनुभूति से कल्पना का और आश्रम से सौन्दर्य जुड़ा रहता है और शिवात्मक सत्य को अंगीकार करता है। कल्पनामूलक शब्द के अन्तर्गत सत्य में भी अनुभूति प्रधान होने से, सत्यनिष्ठ होने से नहीं, ऐसा भेद नहीं किया गया है।

शिवम्- 'शिवम्' शब्द का शाब्दिक अर्थ कल्याण होता है। शिवं, प्रधानतया धर्मशास्त्रादि और सामाजिक शास्त्रों का विषय है। परहित में रत रहने, परार्थ साधन और लोक कल्याण के जनक के रूप में न केवल व्यष्टि अपितु समष्टि में भी 'शिव' शब्द का विचार किया जाता है। शिवत्व से संसार का कल्याण होता है। आचार-विचार में शुद्धि और नैतिक भाव के पोषक-भाव को ग्रहण करता है। काव्य में इस तरह के भावों की उपादेयता अनिवार्य है। लोक के लिए अहितकर और आचार-विचार में दूषित भाव काव्य के लिए उपहास के योग्य हैं। अत: ऐसे भाव अस्वीकार्य हैं। शिवत्व, आदर्शभूत, यथार्थ स्वरूपग्राही और नीतितत्व के पोषक हैं।

जहाँ-जहाँ शिवत्व है, वहाँ-वहाँ आदर्श प्रवृत्त है। कवि आदर्शभूत शिवत्व में भी सत्य का, सौन्दर्य का समाहार अपेक्षित मानते हैं। कवि, सौन्दर्य प्रवृत्त, कुरूप में भी सुन्दर रूप, अमंगल में भी मंगल, अशिव में भी शिव और नीरस में भी सरस का संचार करते हैं।

शिवत्व के महान् हृदयरूपी सागर में लोक-कल्याण की भव्य-भावनाएँ हिलोरे मारती हैं।

केवल अपने स्वार्थ में ही मनुष्य को निविष्ट नहीं रहना चाहिए। इस भाव को द्योतित करता हुआ ऋग्वेदीय मन्त्र कहता है–

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः

वैदिक ऋषि भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह मानव मात्र के लिए सुमति–सद्भावना धारण करें

पाँश्च पश्यामि यॉश्च न तेषु मा सुमति कृधि।

उन प्राणियों के प्रति ही नहीं; जिन्हें वह देखता है, प्रत्युत उनके लिए भी कल्याण की कामना करें; जो उनकी दृष्टि से ओझल हैं, जिन्हें वह नहीं देखता।

निम्नलिखित ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के विशिष्ट सूक्त में विश्व–कल्याण की भावना परिव्याप्त है।

सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानानां उपासते।

इसीलिए तो ऋषियों द्वारा कहा गया है कि–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, यद्भद्रं तन्न आ सुव।

शंकर जी संहार के रूप प्रतिष्ठापित हैं; किन्तु प्रकृति के नियमानुसार ही संसार का संहार कराते हैं। परञ्च विद्यमान रूप में वे भक्तों का कल्याण ही करते है, जिसके कारण उन्हें, 'शिव' कहा गया है। क्योंकि उनमें अधिक कल्याण का भाव अन्तर्निहित है।

सुन्दरम्– जिसे देखकर न सिर्फ मन और हृदय प्रफुलित होता हैं अपितु आकर्षित भी हो जाय, उसे सौन्दर्य कहते हैं। बाहर का सौन्दर्य आँखों से और भीतर का सौन्दर्य हृदय से देखा जाया करता है–

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः[६]

यद्यपि श्री कृष्ण बार–बार उस रैव तक पर्वत को कई बार देख चुके थे, किन्तु फिर भी आज यह कभी न देखा हुआ–सा आश्चर्यजनक प्रतीत हो रहा था। रमणीयता का यही सच्चा स्वरूप है अर्थात् रमणीय उसे ही कहा जाता है जो प्रतिक्षण नया–सा प्रतीत हो और ऐसा ही काव्य में 'लावण्य' शब्द से प्रतिष्ठित होता है।

जिस प्रकार फलों और छाया में अन्तर है, उसी प्रकार प्रत्येक अंग में जो सौन्दर्य प्रतीत होता (देखा जाता) है, उसी को लावण्य कहते हैं।

सौन्दर्य दो प्रकार के होते है :–

प्राकृतिक सौन्दर्य में स्थाई भाव का संचार होता है। जबकि कृत्रिम सौन्दर्य में सामान्यतः अस्थाई सौन्दर्य का अवलोकन होता है।

सौन्दर्य देखकर आनन्द प्राप्त किया जाता है, जबकि अन्तः सौन्दर्य हृदय से अनुभव किया जाता है। जीवन में जितनी आवश्यकता गेहूँ की है, उतनी ही गुलाब की भी होती है। अतः काव्य हो या जीवन, उद्यान हो या पहाड़, नायक हो या नायिका, सुन्दरता सबके लिए अत्यावश्यक है।

–रामबाग चौड़ी, पो. रमना, जिला मुजफ्फरपुर–८४२००२ (बिहार) मो. नं. ९३८६७–५२१७७

६. शिशुपालवाधम्

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523
फरवरी, २०२१

डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्यों में गुणौचित्य

– डॉ. गुलशन शर्मा

आचार्य जगदीशप्रसाद सेमवाल विरचित विलासकाव्य आधुनिक संस्कृत-साहित्य के अमूल्य काव्यरत्न हैं। इनकी संख्या १० है जिनके नाम इन्दुविलास, भानूदयविलास, वसन्तविलास, मेघविलास, हिमगिरिविलास, विडम्बनाविलास, स्वतन्त्रविलास, प्रभाविलास, शैलपुत्रीविलास, जयपुरविलास हैं। ये सभी विलासकाव्य मुक्तक-काव्यों (खण्डकाव्यों) की श्रेणी में आते हैं। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भी ये विलासकाव्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन विलासकाव्यों में रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि, औचित्य, वक्रोक्ति इत्यादि सभी प्रकार के काव्यशास्त्रीय तत्त्व प्रचूर मात्रा में प्राप्त होते हैं। परन्तु इन सभी काव्यशास्त्रीय तत्त्वों में भी मुख्यरूप से औचित्य-सिद्धान्त के अत्यधिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में इन विलासकाव्यों की गुणौचित्य की दृष्टि से समीक्षा की जाएगी।

औचित्य सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य क्षेमेन्द्र ने दो वस्तुओं के परस्पर अनुरूपता के भाव को औचित्य कहा है।[1] इस औचित्य के २७ भेदों के अन्तर्गत उन्होंने काव्यात्मतत्त्वरूपी रस का उत्कर्ष करने के कारण गुणौचित्य को विशेष स्थान दिया है। वे गुणों के महत्त्व का निरूपण करते हुए कहते हैं– जिस प्रकार संभोग के अवसर पर उदित होता हुआ चन्द्रमा आनन्द की वर्षा करने वाला होता है उसी प्रकार वर्णनीय अर्थ के अनुरूप ओज, प्रसाद आदि गुण काव्य में अत्यधिक आनन्ददायक एवं कुशल होते हैं।[2] कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य गुणों का समावेश वर्णनीय विषयवस्तु के अनुकूल ही होना चाहिए ताकि वे काव्य के मुख्यार्थ रस की अभिव्यञ्जना में परमसहायक हो सकें। आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल ने भी अपने विलास-काव्यों में वर्णनीय विषयवस्तु के अनुरूप ही गुणों का समावेश किया है। उनके विलासकाव्यों में गुणौचित्य के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं-

१. माधुर्यगुणौचित्य- माधुर्य वह गुण है, जो चित्त को आह्लादित करने वाला हो तथा यह माधुर्य संभोग-शृंगार, करुण रस, विप्रलम्भ शृंगार और

१. औचित्यविचारचर्चा-७ कारिका.

२. वही, १४ कारिका.

शान्त रस में उत्तरोत्तर अधिक मधुर लगता है।[3] माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक शब्दों में ट, ठ, ड और ढ वर्ण को छोड़कर क से म पर्यन्त वर्ण अपने अन्तिम वर्ण के साथ मिलकर कर्ण-सुखद ध्वनि उत्पन्न करने वाले होते है।[4] माधुर्यगुण से युक्त रचना असमासा या अल्पसमासा होती है।[5] जैसे-

एतेषु चन्दनवनानिलवीजितेषु पुष्पेष्वमन्दकरन्दमदं निपीय।
गुञ्जन्ति भृङ्गनिवहाश्च मदान्धतायामुत्प्लुत्य मत्तपुरुषा इव सम्पतन्ति।।[6]

प्रस्तुत पद्य में चन्दन, अमन्द, मकरन्द, गुञ्जन्ति, भृङ्गनिवहा, मदान्ध, सम्पतन्ति इत्यादि शब्दों में दकार का नकार के साथ, जकार का ञकार के साथ, तकार का नकार के साथ, गकार का ङकार के साथ, धकार का नकार के साथ एवं पकार का मकार के साथ संयोग हैं। इस प्रकार दकार, जकार, तकार, गकार, धकार एवं पकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ संयुक्त हैं। सम्पूर्ण पद्य में ह्रस्व रेफ का ही प्रयोग हुआ है तथा पद्यरचना अल्पसमासयुक्ता है। अतः यहाँ पर समस्त वर्ण माधुर्यव्यञ्जक हैं। इस पद्य में भ्रमरों के द्वारा पुष्पों के मद का भोग होने के कारण सम्भोग शृंगार की प्रतीति हो रही है तथा कवि ने भी सम्भोग शृंगार के अनुरूप माधुर्य गुणोचित पदावली का प्रयोग किया है। अतः यहाँ माधुर्यगुण विषयक औचित्य की अद्भुत सृष्टि हो रही है। इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार मेघविलास में कई एक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[7]

इसके अतिरिक्त भानूदयविलास[8], हिमगिरिविलास[9], मेघविलास[10], प्रभाविलास[11], शैलपुत्रीविलास[12], स्वतन्त्रभारत विलास[13], वसन्तविलास[14], विडम्बनाविलास[15], इन्दुविलास[16], के अन्य पद्यों में भी माधुर्यगुणौचित्य है।

२. ओजोगुणौचित्य- चित्त की विस्तृति अर्थात् विस्तार अथवा उष्णता को ओज कहते हैं। चित्त की यह विस्तृति सहृदयों के हृदय की दीप्ति कहलाती है।[17] यह ओजगुण विशेषकर वीर, बीभत्स, और रौद्ररस में उत्तरोत्तर प्रकृष्ट रूप में विद्यमान रहा करता है।[18] इसके अभिव्यञ्जक

३.साहित्यदर्पण-८.२. ४. वही, ८.३. ५. वही, ८.४ पूर्वा.
६. वसन्तविलास-७४ श्लोक. ७. मेघविलास-८६. ८. भानुविलास-३३,७२.
९. हिमगिरिविलास-२०,२१,६९. १०. मेघविलास-२५. ११. प्रभाविलास-३,४४,५०,८३.
१२. शैलपुत्रीविलास-१४,१५,३०. १३. स्वतन्त्रभारतविलास-१,२५. १४. वसन्तविलास-७२,८०.
१५. विडम्बनाविलास-२,७,१८. १६. इन्दुविलास-३४,३७,८३.
१७. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते। साहित्यदर्पण-८.४ उत्तरार्द्ध.
१८. वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु। वही, ८.५ पूर्वार्द्ध.

वर्ण, वर्ग के प्रथम वर्णों (क,च,ट,त,प) का वर्ग के द्वितीय वर्णों (ख, छ, ठ, थ, फ) के साथ तथा तृतीय वर्णों (ज,ब,ग,ड,द) का वर्ग के चतुर्थ वर्ण (झ,भ,घ,ढ,ध) के साथ योग (जैसे पुच्छ वृद्ध) इत्यादि[१९] तथा रकार का किसी भी वर्ण के नीचे या ऊपर संयोग जैसे (वक्त्र, शक्र, विमर्श) अथवा स्वतन्त्र रूप से ट,ठ,ड,ढ एवं षकार तथा शकार वर्ण हुआ करते हैं।[२०] इसमें दीर्घसमासा रचना एवं उद्धृत पदयोजना होती है।[२१] जैसे-

वेगेन गर्जसि च वर्षति यत्तडित्वन् धाराभिरा-भिरिभराजकरोपमाभिः।
प्रस्तौषि दृश्यममरासुरयुद्धभूमेः किंवा चिकीर्षसि लयं जगतोऽधुनैव।।[२२]

प्रस्तुत पद्य में रेफ का प्रयोग (गर्जसि, वर्षसि, प्रस्तौषि, चिकीर्षसि), युद्ध पद में तवर्ग के तृतीय वर्ण का चतुर्थ वर्ण के साथ संयोग, ल एवं ष का प्रयोग इत्यादि ओजोगुण के प्रकाशक हैं। रस की दृष्टि से यहां पर भयानक रस है तथा भयानक रस में ओजोगुण युक्त पदावली होना परम आवश्यक है। कवि ने भी मेघ की भीषणता को प्रकट करने के लिए यहाँ पर ओजोगुण युक्त पदावली का प्रयोग किया है। जिससे यहाँ पर ओजःगुण विषयक औचित्य की सुन्दर स्थिति बन पड़ी है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी इस गुण को देखा जा सकता है।[२३]

इसके अतिरिक्त हिमगिरिविलास[२४], जयपुरविलास[२५], मेघविलास[२६], शैलविलास[२७], वसन्तविलास[२८] के पद्यों में भी ओज गुणौचित्य दृष्टिगोचर होता है।

३. प्रसादगुणौचित्य- प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता। जिस प्रकार मनुष्य अपने जीवन में आनन्द को ही सर्वोपरि स्थान देता है उसी प्रकार काव्यगुणों में भी 'प्रसाद' गुण को, जो रसिक हृदय कमल को प्रफुल्लित करने वाला है, सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'प्रसाद' सहृदयों के हृदय की एक ऐसी निर्मलता है, जो चित्त में इस प्रकार एकदम व्याप्त हो जाती है जिस प्रकार अग्नि सूखी लकड़ियों में सहसा व्याप्त हो जाया करती है।[२९] यह प्रसाद गुण सभी रसों एवं सभी रचनाओं में हुआ करता है। प्रसाद गुण के लिए कहा गया है कि उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्द ऐसे होने चाहिएं जिनको सुनने मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो जाए।[३०] आचार्य जगदीश प्रसाद सेमवाल द्वारा

---

१९. वर्गस्याकर्तृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ। वही, ८.५ उत्तरार्द्ध. २०. वही, ८.६. २१. वही, ८.७ पूर्वार्द्ध.
२२. मेघविलास-२७. २३. वही-८५. २४. वही-४२;४९.
२५. हिमगिरिविलास-४,५२. २६. जयपुरविलास-२२,६४,६५. २७. मेघविलास-४२,९७.
२८. शैलपुत्रीविलास-७७,७८,८९. २९. वसन्तविलास-४६.
३०. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः। साहित्यदर्पण-८.७ उत्तरार्द्ध.

विरचित विलासकाव्यों में प्रसाद गुण विषयक उदाहरणों की बहुलता है एवम् अनेक स्थलों पर उनमें औचित्य दृष्टिगोचर होता है यथा–

सततं चर मित्र! कर्मणि विचरस्तत्र मधूनि विन्दति।
सततं विचरन्नयं शशी क्षयमेत्यापि पुनः प्रवर्द्धते।।[३१]

इस पद्य में कवि ने कर्म की प्रधानता का विवेचन करते हुए सभी को निरन्तर कर्म करने का उपदेश दिया है। कवि ने यहाँ अत्यधिक सरल सुबोध एवं भावाभिव्यञ्जक शब्दावली का प्रयोग किया है। समासबहुलता एवं कठोर वर्णों का भी अभाव है। इस पद्य को सुनने मात्र से ही शब्दों का अर्थ प्रकट हो रहा है। अतः यहाँ प्रसादगुण विषयक औचित्य है।

इसी प्रकार भानूदयविलास, हिमगिरिविलास[३२], मेघविलास[३३], प्रभाविलास[३४], शैलपुत्रीविलास[३५], स्वतन्त्रभारतविलास[३६], वसन्तविलास[३७], विडम्बनाविलास[३८], इन्दुविलास[३९] के अन्य पद्यों में भी प्रसादगुण विषयक औचित्य द्रष्टव्य है।

–राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय, घमरूर, कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) पिनः १७६५०२।
मोबाईलः ६२३९४६१२४७

३१. स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः।। वही–८.८.
३२. भानूविलास–४७. ३३. हिमगिरिविलास–५६. ३४. मेघविलास–०७.
३५. प्रभाविलास–९१. ३६. शैलपुत्रीविलास–५३. ३७. स्वतन्त्रभारतविलास–७७.
३८. विडम्बनाविलास–०४. ३९. इन्दुविलास–७७.

गायत्री महामन्त्र

–पण्डित वेदप्रकाश शास्त्री

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।
यजु. ३६/३

सर्वरक्षक 'ओम्' है जग को बचाता।
'भूः' सत् स्वरूप है और प्राणदाता।।
दुःख विनाशक 'भुवः' चिदानन्द है।
'स्वः' सुख स्वरूप और सर्वानन्द है।।
'सवितुः' सकल जगत् का है उत्पन्नकर्त्ता।
'देवस्य' है दिव्यगुणों का वह धर्ता।।
'तत् वरेण्यम्' उस श्रेष्ठ प्रभु का वरण करें।
'भर्गः' पापनाशक ईश की हम शरण गहें।।
'धीमहि' प्रभु को चित्त में हम धारण करें।
प्रातः शाम नित्य उसी का गायन करें।।
'यः' जो सवितादेव है 'नः' नित हमारी।
'धियः' बुद्धियों का प्रेरक और निर्मलकारी।।
'प्रचोदयात्' हमें सत्कर्म में वह प्रेरित करे।
सन्मार्ग में चला कर 'वेद' नवजीवन भरे।।

–शास्त्री भवन, ४-ई, कैलाश नगर, फाजिल्का–१५२१२३ (पंजाब)

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523
फरवरी, २०२१
विश्वज्योति वर्षः ६९, सं.११

श्रीमद्भगवद्गीता- आत्मा और परमात्मा एक अनुशीलन

– डॉ. महेश सिंह यादव

श्रीमद्भगवद्गीता सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, जो समाज का पथदर्शक है। यह समाज को एक नयी दिशा प्रदान करता है। इस महाकाव्य में आत्मा, परमात्मा, कर्म, योग आदि जीवन के नैतिक मूल्यों की व्याख्या की गयी है। यह महाकाव्य संसार की आंख है, जो चलने के लिए रास्ता दिखाती है। इस महाकाव्य में सार-तत्त्वों का बोध होता है। यह महाकाव्य वह नींव है, जिस पर जीवनरूपी महल खड़ा होता है, जो सुगन्धित पुष्पों तथा वाटिका से सुसज्जित रहता है। इस जीवन को सुदृढ़ता प्रदान करने का कार्य यह महाकाव्य करता है। यह महाकाव्य आत्मा को अविनाशी मानता है। आत्मा शाश्वत सत्ता है। न आत्मा को शस्त्रों से काटा जाता है। न आग से जलाया जा सकता है। न इसे पानी में भिगोया जा सकता है। न इसे हवा में सुखाया जा सकता है–

नैनम् छिन्दति शस्त्राणि, नैनम् दहति पावकः।
न चैनम् क्लेदयन्ति आपो न शोषयति मारुतः।।[1]

यह आत्मा अछेद्य है। यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है–

अच्छेद्यो अयम् अदाह्यो अयम् अक्लेद्यो अशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलो अयम् सनातनः।।[2]

आत्मा अजर अमर है। आत्मा नहीं मरती है। यह शरीर मरता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नया वस्त्र धारण करता है वैसे ही यह आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर धारण करती है–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृहणाति नरो अपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि,
अन्यानि संयाति नवानि देही।।[3]

इस आत्मा का किसी भी काल में न तो जन्म होता है, न आत्मा किसी काल में मरता ही है, क्योंकि यह आत्मा अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता है–

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं,
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयम् पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[4]

१. श्रीमद्भगवद्गीता, २/२३. २. वही, २/२४. ३. वही, २/२२. ४. वही, २/२०.

इस संसार का नाश हो सकता है, यह संसार मर सकता है, पर यह आत्मा कभी मरती नहीं है, इसका नाश नहीं होता है। जो इस आत्मा को मरने वाला समझता है, जो इसको मारने योग्य समझता है, वे दोनों ही इसे नहीं जानते हैं। न यह आत्मा मरती है और न ही इस आत्मा को मारा जा सकता है-

यः एनम् वेत्ति हन्तारम्, यः च एनम् मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो न अयम् हन्ति न हन्यते।।[५]

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य तथा विकाररहित है। कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि तुम शोक करने योग्य नहीं हो तुम्हें किसी मारने वाले की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यह समाज की उचित व्यवस्था है-

अव्यक्तो ऽयम् अचिन्त्यो ऽयम्, अविकार्यो ऽयम् उच्यते।
तस्मादेवम् विदित्वैनम् नानुशोचितुमर्हसि।।[६]

जिस प्रकार इस शरीर को किशोरावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त होती है वैसे ही यह आत्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरा शरीर धारण करता है। यह सृष्टि की प्रक्रिया है। सदैव आत्मा शरीर के पुराना होने पर शरीर का त्याग कर देता है-

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारम्, यौवनम् जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिः धीरः तत्र न मुह्यति।।[७]

इस महाकाव्य में शरीर को ही नश्वर बताया गया है, जो इस धरती पर जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है अर्थात् शरीर नष्ट होता है पर जिसकी मृत्यु होती है, उसका भी जन्म होता है, उसे निश्चित रूप से शरीर मिलता है। इस प्रकार जन्म और मृत्यु का सिलसिला सदैव चलता है। आत्मा को जैसा शरीर मिलता है, वह धारण कर लेता है। आत्मा कभी भी दुःखी नहीं होता है-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवम् जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वम् शोचितुमर्हसि।।[८]

यह आत्मा शरीर में सदा ही अबध्य रहता है, कोई शरीर को मार सकता है, पर आत्मा को नहीं मार नहीं सकता-

देही नित्यम् अबध्यो ऽयम् देहे सर्वस्य भारत।।[९]

ब्रह्म सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करने वाला, अनित्यस्वरूप, सूर्य के सदृश नित्यचेतन प्रकाशरूप, अविद्या से परे शुद्ध सच्चिदानन्द है। इस महाकाव्य में ब्रह्म को सृष्टि का नियामक बताया गया है-

कविम् पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्य रूपमादित्यवर्णम् तमसः परस्तात्।।[१०]

इस महाकाव्य में परमात्मा को परम अक्षर माना गया है, परमात्मा का कभी भी नाश नहीं होता है-

---

५. श्रीमद्भगवद्गीता, २/१९. ६. वही, २/२५. ७. वही, २/१३. ८. वही, २/२७.
९. वही, २/३०. १०. वही, ८/९.

अक्षरम् ब्रह्म परमम् स्वभावो अध्यात्ममुच्यते।[११]

यह ब्रह्म अव्यक्त से भी अतिपरे दूसरा, अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा सभी प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है–

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।[१२]

ब्रह्म को परम पुरुष बताया गया है, वह सच्चिदानन्द है, वह सम्पूर्ण जगत् का नियामक है। सम्पूर्ण सृष्टि उसकी ही कृपा से चलती है–

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदम् ततम्।।[१३]

प्रलय भी परमात्मा की इच्छा से ही होती है। सभी प्राणी परमात्मा के द्वारा बनाये जाते हैं तथा परमात्मा से उत्पन्न होते हैं एवं परमात्मा में ही लय होते हैं फिर परमात्मा ही सृष्टि की रचना करता है–

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।[१४]

श्रीकृष्ण ब्रह्म का परिचय देते हुए कहते हैं कि मैं ही इस सम्पूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण पोषण करने वाला, कर्मों के फल को देने वाला, माता-पिता और पितामह हूँ। मैं ही जानने योग्य, पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी हूँ अर्थात् गीता के ब्रह्म ओंकार हैं सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद हैं। माता-पिता तथा पितामह हैं। सम्पूर्ण सृष्टि में ही विराजमान हैं–

पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यम् पवित्रमोंकारः ऋक्साम यजुरेव च।।[१५]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि श्रीमद्भगवद्गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा अजर अमर है यह कभी नष्ट नहीं होता है। आत्मा न कभी जन्म लेती है और न कभी मरती है। साथ ही परमात्मा भी अजन्मा है, वह सम्पूर्ण सृष्टि का नियामक है। परमात्मा की ही कृपा से सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन होता है। परमात्मा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता है। परमात्मा ही सृष्टि का संहारक एवं सृजनकर्ता है। वह सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् है। वह प्राणदाता है। वह सृष्टि का संचालक है। वह सम्पूर्ण लोकों का मालिक है। सब कुछ उसकी कृपा का पात्र है। वह जगद्पिता है। वह नीति तथा शास्त्र का पुरोहित है।

–आर.जी.एन.पी. कॉलेज, राजा का ताजपुर, बिजनौर। मोबाईलः ९४११२-२६०९८

११. श्रीमद्भगवद्गीता, ८/३. १२. वही, ८/२०. १३. वही, ८/२२.
१४. वही, ९/७. १५. वही, ९/१७.

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523
फरवरी, २०२१
विश्वज्योति वर्षः ६९, सं.११

पुरुषार्थ-चतुष्टय का अध्ययन

– श्री विश्वनाथ देवशर्मा

मानव-समाज और उसकी इच्छा का प्रधान विषय पुरुष और पुरुषार्थ हैं।

पुरुष- पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है- 'पूः= पुरं शरीरं च, पुरि शेते इति-पुरुषः।' अर्थात् जो इस पुर में- शरीर में सोया हो, प्रवेश किया हो, शरीर में अवस्थित, उस चैतन्यांश जीव को पुरुष कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुरुष शब्द का यौगिक अर्थ तो जीवमात्र है। किन्तु 'पुरुषत्वे चाविरतरामात्मा।' 'पुरुषत्वे[1] च मां धीराः।' 'बह्वयः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी[2] प्रिया।' पुरं पुरुषमात्मवान्[3]।' इत्यादि प्रसंगों में योग-रुढ़ि के अनुसार- पुरुष शब्द का अर्थ जीव-साधारण न होकर मनुष्य होता है। इसके अनुसार पुरुषार्थ पद में जुड़ा हुआ पुरुष शब्द मनुष्यवाची है। इसलिए यहाँ पुरुष शब्द का अर्थ मनुष्य अर्थात् नर-नारी है।

पुरुषार्थ- 'अर्थ्यते प्रार्थ्यते सर्वैः इति अर्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अभिलषित फलों को (विषयों को) अर्थ कहते हैं और 'पुरुषाणाम् अर्थः पुरुषार्थः।' अथवा- 'पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो पुरुषों से चाहा जाये, अर्थात् मनुष्य जिस फल की इच्छा करें, उसका नाम है- 'पुरुषार्थ'। इस दृष्टि से तो प्रायः संसार के सभी विषय पुरुषों के अभिलषित हैं। परन्तु वेद, शास्त्र एवं सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय में पुरुष के-मनुष्य जीवन के सभी अभीष्टों में मुख्य अभीष्ट केवल चार ही बतलाये गये हैं। अतः मनुष्य के जो प्रधान अभिलषित विषय हैं उन्हें पुरुषार्थ कहते हैं। ये अभिलषित चार हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अतः इन्हीं को चार पुरुषार्थ कहते हैं। इनको सम्पादन करने की शक्ति केवल पुरुष में ही विद्यमान है। सभी जीव इनका सम्पादन नहीं कर सकते हैं। केवल पुरुष ही (मनुष्य ही) इनका सम्पादन कर सकता है। इसीलिए इन्हें 'पुरुषार्थ[4]' कहा जाता है।

पुरुष अर्थात् मनुष्य यानी सभी नर-नारी जिन-जिन सुख और सुख के साधनों की विशेष अभिलाषा करते हैं, उनको पुरुषार्थ कहते हैं। वास्तव में मनुष्य संसार में उत्पन्न होकर जो भी चाहता है, उन सभी का लक्ष्य इन चारों में से कोई न कोई होता है। कोई मनुष्य धर्म को लक्ष्य करता है, कोई काम की सिद्धि को चाहता है और कोई

१. श्रीमद्भागवद्त, ११-७-७१. २. वही, ७-११-२२. ३. वही, ३-२०-५०.
४. मानव-समाज के अभिलषित विषय। पुरुषेण प्राथ्यीनि श्रेयांसि (फलानि)।

मोक्ष की अभिलाषा करता है। भगवान् उनकी इच्छानुसार उन्हें यह चतुवर्ग फल देते हैं-

पुंसाममायिनां सम्यग् भजतां भाववर्धनः।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद् धर्मादिषु देहिनाम्।।[५]

अतः जगत् में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चतुवर्ग ही समस्त पुरुषों (मनुष्यों) की सम्पूर्ण चेष्टाओं का लक्ष्य है।

धर्म- पुरुष का पहला अभीष्ट धर्म है। अतः पहला पुरुषार्थ धर्म है। प्रत्येक चेतन का यह स्वभाव है कि वह अपनी वर्तमान परिस्थिति में सदैव न्यूता का अनुभव करता है और उससे उच्च परिस्थिति को प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। अतः संसार में जो मनुष्य जहाँ भी जिस परिस्थिति में है वहां से उन्नति को प्राप्त करने की अर्थात् अपने अभ्युदय की लालसा उसको लगी रहती है। मनुष्य की उस अभिलषित उन्नति का जो मुख्य साधन है, वही धर्म है और जो इसके विपरीत फलस्वरूप है, वह मनुष्य की अवनति का अधोगति का कारण है, उसका नाम है- अधर्म। इसीलिए महर्षि कपिल ने मनुष्य की उन्नति और अवनति को धर्म और अधर्म का फल बतलाया है-

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण[६]

(सांख्यकारिका)

यही बात वायुपुराण में कही है-

धारणाद् धृतिरित्यर्थाद् धातोर्धर्मः प्रकीर्तितः।
अधारणेऽमहत्त्वे च अधर्म इति चोच्यते।।

(५७ अ. ५८)

उन्नति दो प्रकार की होती है। एक का नाम है- अभ्युदय[७] और दुसरी का नाम है निःश्रेयस्ः[८]।

धर्म का लक्षण एवं धर्म में प्रमाण- किसी भी वस्तु की सिद्धि उसके लक्षण और प्रमाण से होती है। इसलिए धर्म का साक्षात्कार किए हुए महर्षियों ने उसके अद्भुत प्रभावों को देखकर उसके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाते हुए तरह-तरह के प्रमाणों से उसे सिद्ध किया। जैसे कि-

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः

(वैशेषिक सूत्र)

अर्थात् जिससे मनुष्यों के ऐहलौकिक अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि होती है, उसको धर्म कहते हैं।

महर्षि जैमिनि ने धर्म के प्रमाण और फल दोनों पर दृष्टि रखते हुए उसका यह लक्षण बतलाया है कि- 'मनुष्यों के सम्पूर्ण अभीष्ट को सिद्ध करने वाला है जो वेद-प्रतिपादित अचूक साधन है, उसको धर्म कहते हैं-

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।[९]

---

५. श्रीमद्भागवद्त, ४-८-६०.

६. अर्थात् सत्कर्म से उत्पन्न होने वाला अपूर्व नामक आत्मगुण। यह धर्म ही मनुष्य की सर्वविध उन्नति का कारण है।

७. अभ्युदय का अर्थ है- अभितः उदय-अर्थात् सब तरह से आगे बढ़ना, उन्नति को प्राप्त होना।

८. निःश्रेयस् का अर्थ- निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्।

९. मीमांसासूत्रः १-२.

धर्म में कौन-कौन से प्रमाण हैं- इस विषय का विवेचन करते हुए भगवान् मनु ने कहा है कि- वेद, धर्मशास्त्र, शिष्टाचार इन तीनों प्रमाणों के अविरुद्ध आत्म-तुष्टि- ये चारों धर्म में साक्षात् प्रमाण हैं, अर्थात् ये सब धर्म के स्वरूप को लक्षित करने वाले हैं।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।।[१०]

मनु के ही मत का समर्थन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि-

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।[११]

महाभारत में कहा है कि- धर्म के विषय में सन्देह करना अनर्थ का हेतु होता है-

धर्मो यस्याभिशंक्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः।
वेदाच्छूद्र इवोपेयात् स लोकादजरामरात्।।
पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशंकते।।[१२]

अर्थ- द्वितीय पुरुषार्थ का नाम 'अर्थ' है। जिसके द्वारा मनुष्य के इस लोक और परलोक के समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं, उसको अर्थ कहते है-

यतः सर्वप्रयोजनः-सिद्धिःस अर्थः।

अर्थ- मनुष्यों के भोग, आरोग्य और धर्म का मुख्य साधन है। इसी से अर्थ की ओर सब की प्रवृत्ति होती है। महर्षि चाणक्य ने कहा-

अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः।[१३]

अर्थ का अर्थ है- अभिलषित वस्तु। अतः अर्थ को सभी प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए उसका 'अर्थ' नाम भी सार्थक है-

अर्थ्यते सर्वैः इति अर्थः।[१४]

अर्थात् जिस को प्राप्त करने की अभिलाषा सब करते हैं; उसे अर्थ कहते हैं।

अर्थ को प्राप्त करने की अभिलाषा सब क्यों करते हैं? इसका कारण महर्षि चाणक्य ने यह बतलाया है कि- प्राणियों की सुख-समृद्धि का मूल है धर्म। धर्म का मूल है- अर्थ।

सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलम् अर्थः।।

चूँकि सुख को सब चाहते हैं, इसलिए सुख के लिए ही सब लोग अर्थ को चाहते हैं। इसीलिए महर्षि कौटिल्य ने त्रिवर्ग में अर्थ को ही प्रधान मानकर उसे धर्म और काम का मूल बतलाया है-

अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ धर्मकामौ।।[१५]

काम- तीसरे पुरुषार्थ का नाम काम है। जिस प्रकार धर्म और अर्थ- ये दोनों पुरुषार्थ लोक-स्थिति के मुख्य साधन होने से परम उपादेय हैं, उसी प्रकार काम भी प्राणियों की लोकयात्रा अर्थात् जीवन-निर्वाह में उपयोगी सुख-सामग्रियों का मुख्य साधन होने से अत्यन्त उपादेय है। काम के बिना प्राणियों की उत्पत्ति, जीवन-निर्वाह एवं

१०. मनु. २/१२. ११. या. स्मृ. १. १२. महाभा.वनपर्व-३१.७.११.
१३. चा. सू. ७ अ. २८. १४. चा. सू. १ अ. १,२. १५. कौ. अर्थशास्त्र.

सुख की प्राप्ति ही असम्भव है।

'काम्यते इति कामः'- इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला मानसिक आनन्द ही मुख्यतया काम कहलाता है। यह काम चित्त का सङ्कल्प है। इसका स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है। अतएव वह केवल अनुभव-गम्य है। इसीलिए महाभारत में कहा है कि-

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते।

स कामश्चित्तसङ्कल्पः शरीरं नास्य दृश्यते।[१६]

भगवान् ही प्राणियों के शरीर में विषयाकार बनी हुई बुद्धि में अवस्थित होकर उसमें अभिव्यक्त आनन्दरूप होकर कर्मों के फल के रूप में प्रतीत होते हैं-

प्रधानकालाशयधर्मसंग्रहे शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम्।

क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः।।[१७]

इसलिए श्रुति कहती है कि-

एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

मोक्ष- चतुर्थ पुरुषार्थ का नाम है- मोक्ष। इसे परम पुरुषार्थ भी कहते हैं। प्रायः अर्थ और काम की चकाचौंध के सामने अधिकांश, अविवेकी मनुष्य मोक्ष को शुष्क और नीरस समझकर उसका नाम ही सुनकर घबरा जाते हैं। वे लोग समझते हैं कि भला मोक्ष में क्या आनन्द मिलगा? वहां न तो यह शरीर ही रहेगा और न ये प्रिय विषय ही मिलेंगे, केवल यह आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाएगा। तब इससे हमें आनन्द क्या मिलेगा?

परन्तु समस्त वेद, शास्त्र महान् से महान् ज्ञानी ऋषि-महर्षि, सन्त, मुनि-महात्मा आदि लोकोत्तर प्रतिभाशाली सभी महापुरुषों ने संसार-भरके एक से एक सुखों की छान-बीन करके उन्हें अच्छी तरह से परख करके अन्त में बिना मतभेद के एक स्वर से यही एक अकाट्य, अटल सिद्धान्त सुस्थिर कर दिया है कि- वास्तव में सबसे उत्तम, सबसे सुखमय और सबको अभीष्ट और निरवधिक अखण्ड आनन्दमय महान् सरस पुरुषार्थ मोक्ष ही है। इसलिए विष्णु-पुराण में कहा है कि-

इति संसार-दुःखार्क-ताप-तापित-चेतसाम्।

विमुक्ति-पादपच्छायामृते कुत्र सुखं नृणाम्।।[१८]

अर्थात् सांसारिक दुःखरूपी प्रचण्ड सूर्य के ताप से जिन का अन्तःकरण सन्तप्त हो रहा है, उन पुरुषों को मोक्षरूपी कल्पवृक्ष की शीतल छाया को छोड़कर और कहाँ सुख मिल सकता हैं? अतएव मोक्ष ही समस्त पुरुषार्थों और समस्त सुखों का मूल है।

-शोधछात्र, वी.वी.बी.आई.एस. एण्ड आई.एस.

(पंजाब विश्वविद्यालय), साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)

१६. महाभारत-वनपर्व- ३३.३. १७. भाग. ४-२१-३५. १८. विष्णुपुराण-६ अंश. ५ अ. ५७

PEER REVIEWED JOURNAL
ISSN 0505-7523
फरवरी, २०२१
विश्वज्योति वर्षः ६९, सं.११

स्वप्नवासवदत्तम् में ध्वनि-तत्त्व

– श्री दिनेश कुमार

भाषा एक अद्भुत तत्त्व है जो विविध परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करता हुआ दिखाई देता है। भाषा के द्वारा अभिव्यक्त अर्थों को शास्त्रकारों ने तीन श्रेणियों में विभक्त करके उनके पीछे निहित कारणों का विस्तार से विश्लेषण किया है, जिन्हें हम अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना अथवा ध्वनि के नाम से जानते हैं। अभिधा और लक्षणा तो शब्द अथवा भाषा की वे शक्तियाँ हैं जो क्रमशः साक्षात् एवं सम्बद्ध अर्थों को अभिव्यक्त करती हैं परन्तु व्यञ्जना अथवा ध्वनि एक ऐसी अद्भुत शक्ति है जो सर्वथा असम्बद्ध अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ दिखाई देती है। शास्त्रकारों ने भाषा की इस विलक्षण क्षमता और शक्ति का विस्तार से विश्लेषण और विवेचन किया है, जिसे ध्वनि-सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है।

आनन्दवर्धन को ध्वनि-सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणों से मिली है, जिसका संकेत उन्होंने 'ध्वन्यालोक' की प्रथम कारिका में 'बुधैः'[1] शब्द के द्वारा किया है। इस शब्द को काव्यप्रकश भी 'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूत......शब्दार्थयुगलस्य'[2] इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं। आनन्दवर्धन तेरहवीं कारिका के वृत्तिभाग में स्वीकार करते हैं कि वैयाकरण ही पहले विद्वान् हैं क्योंकि व्याकरण ही सभी विद्याओं का मूल है।[3]

ध्वनि शब्द का प्रयोग श्रोत्रेन्दिय द्वारा ग्राह्य आकाश के गुणरूप श्रूयमाण शब्द के लिए किया है; वक्ता के मनोभावों को अभिव्यक्त करने का साधन बनता है।

स्फोटवाद- स्फोटवाद का सिद्धान्त कब प्रारम्भ हुआ था बताना कठिन है परन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य'[4] के आधार पर स्फोटायन आचार्य को ही स्फोटावाद का प्रतिपादक मानते हैं।

भट्टोजिदीक्षित स्फोट का अर्थ करते हैं कि

१. ध्वन्यालोक,१/१.

२. काव्यप्रकाश, वृत्तिभाग, प्रथम उल्लास.

३. प्रथमे हिं विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। (ध्वन्यालोक, १/१३ की वृत्ति).

४. अष्टाध्यायी, ६/१/१२३.

जिसमें से अर्थ प्रस्फुटित हो उसे स्फोट कहते हैं। स्फोट और ध्वनि का सम्बन्ध व्यङ्ग्य-व्यञ्जक का सम्बन्ध है।

ध्वनि शब्द का अर्थ- ध्वनि शब्द 'ध्वन्' से 'इ' प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है।[5] वैयाकरण स्फोट के व्यञ्जक उच्चरित वर्णों को नाद या ध्वनि कहते हैं। इसलिए काव्य में प्रतीयमान अर्थ के व्यञ्जक शब्द तथा अर्थ को भी ध्वनि कहा जाता है।[6]

काव्यशास्त्रियों के अनुसार ध्वनि की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध पाँच अर्थों में की जाती है-

१. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः- जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।
२. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः- जो ध्वनित करे या करवाये, वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।
३. ध्वन्यते इति ध्वनिः- जो ध्वनित होता है वह ध्वनि है।
४. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः- जिसके द्वारा ध्वनन होता है वह ध्वनि है।
५. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः- जिसमें ध्वनन किया जाता है वह ध्वनि है। जिसमें वस्तु, अलङ्कार रसादि ध्वनित हो उस काव्य को ध्वनिकाव्य कहते हैं।

ध्वनि का लक्षण- आनन्दवर्धन ध्वनि के लक्षण को करते हुए कहते हैं- जहाँ अर्थ अपने आप को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं, उस विशेष काव्य को ध्वनिकाव्य कहते हैं।[7]

ये शब्द और अर्थ जिस प्रतियमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं वही अर्थ काव्य का अलौकिक चमत्कारी पदार्थ है और सहृदयों को आह्लादित करने वाला है। यह प्रतियमान अर्थ, शब्द और अर्थ से भिन्न अवभासित होने वाला कोई दूसरा ही तत्त्व है। जो वनिताओं के शरीरावयव संघटना से सर्वथा भिन्न लावण्य के समान हैं।[8]

ध्वनि के भेद एवं प्रभेद- ध्वनिकार ने ध्वनि का वर्गीकरण करते हुए इसके अनेक भेद-प्रभेदों का उल्लेख किया है, परन्तु वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनके द्वारा उक्त ध्वनि के भेद-प्रभेद तो इसका निदर्शनमात्र है वस्तुतः ध्वनि के भेद-प्रभेदों का समग्रतया परिगणन कथमपि संभव नहीं है। ध्वन्यालोककार के उत्तरवर्ती अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के भेद-प्रभेदों का विस्तार से उल्लेख किया हैं परन्तु इनमें से आचार्य मम्मट के द्वारा बताए गए ध्वनि के भेद-प्रभेदों को अधिक वैज्ञानिक और युक्तियुक्त माना जाता है, इसलिए इनके द्वारा बताए गए ध्वनि के भेद-प्रभेदों को यहाँ तालिका में प्रदर्शित किया जा रहा है-

---

५. शब्दकल्पद्रुम्. ६. तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थवपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ। (ध्वन्यालोकलोचन, पृ. १३४).
७.यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। (ध्वन्यालोक, १/१३)
८. ध्वन्यालोक, ३/१४.

(क)	लक्षणा मूला-	अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि	२
(ख)	अभिधामूला-	असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य	१
		संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य	१५
			१८

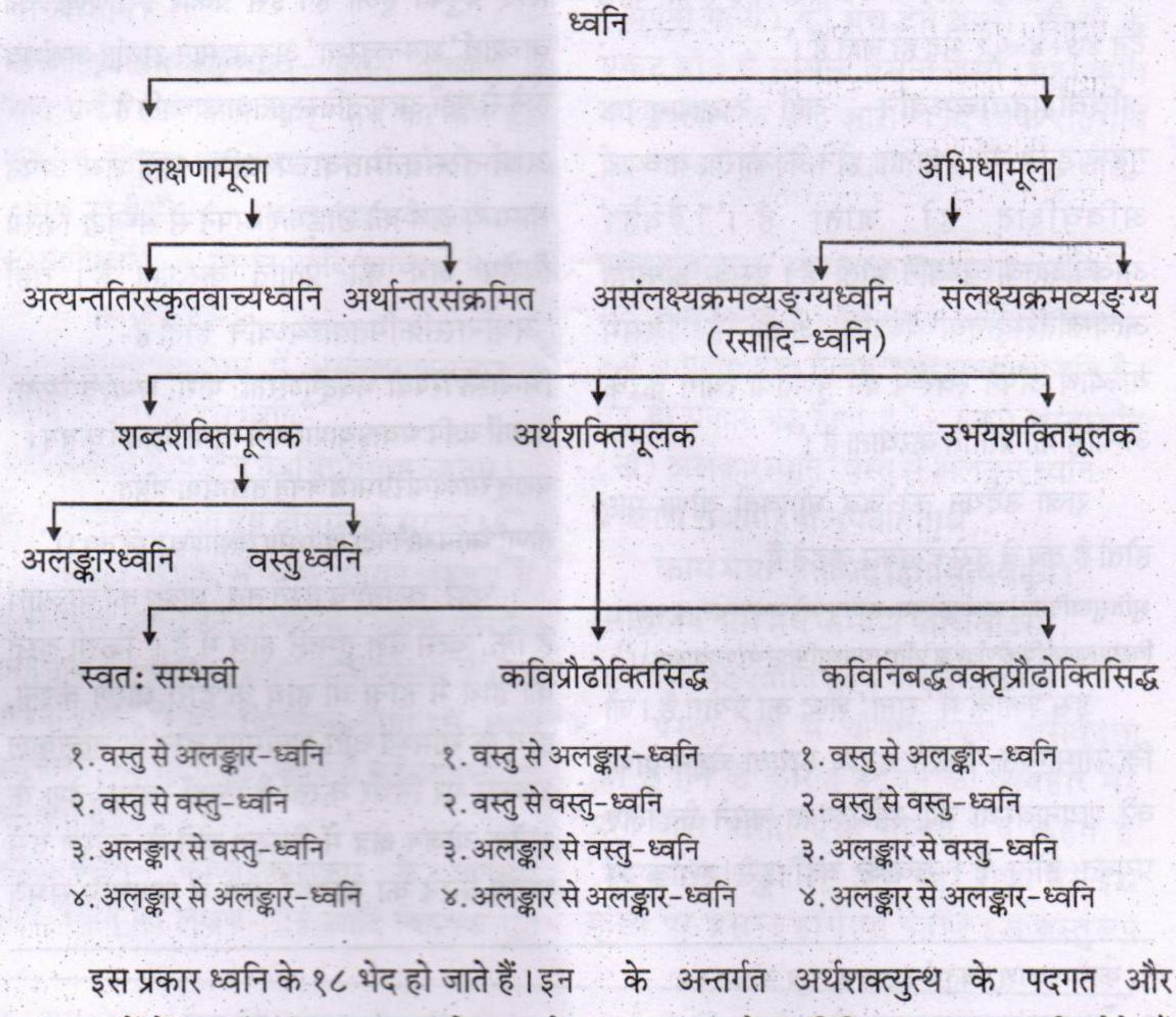

इस प्रकार ध्वनि के १८ भेद हो जाते हैं। इन अठारह में से एक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत उभयशक्त्युत्थ भेद है वह केवल वाक्य में रहता है, शेष १७ भेद पदगत तथा वाक्यगत दो प्रकार होने से १७×२=३४ बन जाते हैं। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत अर्थशक्त्युत्थ के पदगत और वाक्यगत के अतिरिक्त प्रबन्धगत भी होते हैं इसलिए उनको जोड़ देने पर ३४+१२=४६ हो जाते हैं। एक उभयशक्त्युत्थ को मिला देने पर ४६+१=४७ हो जाते हैं।

इन सैंतालीस भेदों में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का एक ही भेद माना गया है। जो पदगत तथा वाक्यगतरूप से तो गणना में आ चुका है परन्तु वह उसके अतिरिक्त (१) पदांश (२) वर्ण (३)रचना तथा (४) प्रबन्ध में भी होता है इस प्रकार पूर्वोक्त ध्वनि के ४७ भेदों में इन्हें भी जोड़ देने ४७+४=५१ भेद हो जाते हैं।[९]

अविवक्षितवाच्यध्वनि- जहाँ लक्षणामूलक गूढव्यङ्ग्य की प्रधानता होने के कारण वाच्यार्थ अविवक्षित हो जाता है।[१०] वहां अविवक्षितवाच्यध्वनि होती है। इसके अन्तर्गत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि आती है जिसमें वाच्यार्थ अपने स्वरूप का पूर्णतया त्याग करके अन्यार्थ की प्रतीति करवाता है।[११]

राजा उदयन को जब घोषवती वीणा प्राप्त होती है तब वे उसे देखकर कहते हैं-

श्रुतिसुखनिनदे! कथं नु देव्याः स्तनयुगले जघनस्थले च सुप्ता।
विहगगणरजोविकीर्णदण्डा प्रतिभयमध्युषितास्यरण्यवासम्।।[१२]

इस श्लोक में 'सुप्ता' शब्द का प्रयोग है। जो कि सामान्यतः किसी मनुष्य अथवा चेतन प्राणी की शयनावस्था को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। जबकि यहाँ इस श्लोक में निष्प्राण या अचेतन वीणा के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिसमें अचेतन होने के कारण, शयनावस्था संभव ही नहीं है। इस प्रकार सुषुप्ति-अवस्था से भिन्न किसी अन्य अर्थ को प्रस्तुत सन्दर्भ में 'वासवदत्ता की गोद में स्थिति मात्र' को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार इस शब्द का वाच्यार्थ 'शयनावस्था' अनुपद्यमान अर्थात् असंभव होने से यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि है।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि- जहाँ शब्द अपने सामान्य अर्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध किसी विशेष अर्थ की प्रतीति करवाता है। वहाँ 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' होती हैं-[१३]

भिन्नास्ते रिपवो भवद्गुणरताः पौराः समाश्वासिताः
पार्ष्णी यापि भवत्प्रयाणसमये तस्या विधानं कृतम्।
यद्यत् साध्यमरिप्रमाथजननं तत्तन्मयानुष्ठितं
तीर्णा चापि बलैर्नदी त्रिपथगा वत्साश्च हस्ते तव।।[१४]

यहाँ 'वत्साश्च हस्ते तव' वाक्य का वाच्यार्थ है कि 'वत्स देश तुम्हारे हाथ में हैं।' किसी वस्तु का हाथ में होना या हाथ के द्वारा धारण करना, हाथ के सामर्थ्य और धार्यमाण वस्तु के तदनुकूल आकार पर निर्भर करता है। यहाँ 'वत्स' देश के अनेक योजन क्षेत्र में विस्तृत होने के कारण उसे धारण करने का सामर्थ्य हाथ में कथमपि संभव

---

९. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र संख्या ६२.

१०. लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्रधाने सत्येव, अविवक्षितं वाच्यं यत्र स ध्वनौ इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः। (काव्यप्रकाश, कारिका-३९, वृत्तिभाग).

११. क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम्। (काव्यप्रकाश, कारिका-३९, वृत्तिभाग)

१२. स्वप्नवासवदत्तम्, ६/२.

१३. तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्। (काव्यप्रकाश, ४/२४, वृत्तिभाग).

१४. स्वप्नवासवदत्तम्, ५/१२.

नहीं है। इस प्रकार वाच्यार्थ के असंभव हो जाने पर यहाँ उपर्युक्त वाक्य अपने अर्थ का पूर्णतया त्याग न करते हुए वत्स देश के पुन:प्राप्ति अभियान में या तदर्थ युद्ध में आपकी विजय सुनिश्चित है, इस अर्थ में संक्रमित हो गया है। अत: यहाँ अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि है।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्व- इसमें वाच्यार्थ के बाद प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का क्रम होते हुए भी शीघ्रता के कारण उस क्रम की प्रतीत नहीं होती।[१५] असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि (रसादिध्वनि) के मम्मट आदि आचार्यों ने आठ भेद स्वीकार किये हैं।[१६]

स्वप्नवासवदत्तम् में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के अन्तर्गत रस ध्वनि-

स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन नेत्रविप्रोषिताञ्जनम्।
चारित्रमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम्।।[१७]

प्रस्तुत श्लोक में राजा उदयन आश्रय हैं, वासवदत्ता आलम्बन विभाव है। स्तम्भ, रोमाञ्च अनुभाव हैं। चिन्ता, शंका सञ्चारीभाव हैं। इन सबके संयोग से यहाँ विप्रलम्भ शृंगार रस-ध्वनि अभिव्यञ्जित होती हुई, सहृदयों को आह्लादित कर रही हैं।

भाव-ध्वनि- काव्यप्रकाशकार के अनुसार भाव-ध्वनि का लक्षण- देव आदि विषयक रति आदि स्थायीभाव और व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव 'भाव' कहलाते हैं।[१८]

उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्।।[१९]

उदय होते हुए नये चन्द्रमा के सदृश वर्ण वाली, मद्यपान से बलरहित अथवा अबला (अपनी पत्नी) को मद्य देने वाली, लक्ष्मी के प्रकट होने से सम्पन्न वसन्त जैसी। यहाँ कवि का बलराम के प्रति आराध्य विषयक रतिभाव के ध्वनित होने के कारण देवविषयक भाव-ध्वनि है।

शब्दशक्त्युत्थ 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि'-

जहाँ शब्द से वस्तु अथवा अलंकार प्रधान-रूप से प्रतीत होते हैं वह शब्दशक्त्युत्थध्वनि है। वह दो प्रकार की होती है[२०]- (क) वस्तुध्वनि (ख) अलंकारध्वनि। वस्तु से अलङ्कार ध्वनि-

प्रच्छाद्य राजमहिषीं नृपतेर्हितार्थं,
कामं मया कृतमिदं हितमित्यवेक्ष्य।
सिद्धेऽपि नाम मम कर्मणि पार्थिवोऽसौ,
किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे।।[२१]

प्रस्तुत पद्य में यौगन्धरायण वासवदत्ता को छुपाने के कारण उदयन का व्यवहार मेरे प्रति कैसे होगा, ऐसा सोचते हुए कहते हैं 'हृदयं परिशङ्कितं मे' पता नहीं राजा मेरे इस कृत्य पर प्रसन्न होंगे या नहीं? इस वस्तुरूप

---

१५. अलक्ष्येति। न खलु विभावानुभव्यभिचारिण एव रस:, अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रम: स तु लाघवान्न लक्ष्यते। (कारिकाप्रकाश, कारिका-२५, वृत्तिभाग)

१६. रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रम:। भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थित:।। (काव्यप्रकाश, ४/२६.)

१७. स्वप्नवासवदत्तम्, ५/१०.

१८. काव्यप्रकाश, कारिका-३५.

१९. स्वप्नवासवदत्तम्, १/१.

२०. काव्यप्रकाश, कारिका-३८.

२१. काव्यप्रकाश, कारिका-६/१५.

वाच्यार्थ से यौगन्धरायण द्वारा यह निर्णय न कर पाने के कारण यहाँ सन्देह अलंकारके व्यङ्ग्य होने के कारण वस्तु से अलंकार ध्वनि हैं।

अर्थशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि- जहाँ अर्थ शब्दव्यापार की सहायता लिए बिना ही अपने सामर्थ्य से अन्यार्थ को प्रकाशित करता है, वहाँ अर्थशक्त्युत्थध्वनि होती है।[२२] जैसे-

परिहरतु भवान् नृपापवादं,
न परुषमाश्रमवासिषु प्रयोज्यम्।
नगर परिभवान् विमोक्तुमेते,
वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति।।[२३]

यहाँ 'तुम राजा के लिए अपयशकारक व्यवहार से बचो' यह वाक्य तपस्वियों के प्रति परुष-वचन कहने से रोकने के प्रति हेतु होने के कारण यहाँ काव्यलिंग[२४] अलंकार है। काव्यलिङ्ग अलंकार से व्यतिरेक अलंकार[२५] व्यञ्जित हो रहा है, क्योंकि तपस्वीजन सामान्य जन से अधिक प्रशंसनीय तथा पूजनीय होते हैं। तपस्वियों के प्रति वन्दनीय व्यवहार लोक में देखे जाने के कारण यहाँ स्वतः सम्भवी अलंकार से अलंकार ध्वनि है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य- जहाँ व्यङ्ग्यार्थ से अधिक चारुता वाच्यार्थ की हो वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है।[२६] गुणीभूत व्यङ्ग्य के अगूढ आदि ८ भेद ध्वनि-आचार्यों के द्वारा स्वीकार्य है।[२७]

तीर्थोदकानि समिधः कुसुमानि दर्भान् स्वैरं वनादुपनयन्तु तपोधनानि।
धर्मप्रिया नृपसुता न हि, धर्मपीडामिच्छेत् कुलव्रतमेतदस्याः।।[२८]

यहाँ 'पद्मावती तपस्वियों के नित्य-कर्म में बाधा नहीं चाहती' यह वाच्यार्थ है। यज्ञ आदि क्रिया में बाधा से प्राप्त होने वाले पाप से बचना, यह व्यङ्ग्यार्थ है। 'पाप से बचना' इस व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान सामान्य व्यक्ति को भी सरलता से होने के कारण यहाँ अगूढ़गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार स्वप्नवासवदत्तम् नाटक को आद्योपान्त पढने से स्पष्ट है कि- ध्वनि सिद्धान्त की दृष्टि से भास-रचित स्वप्नवासवदत्तम् अतिरमणीय और उत्कृष्ट रचना है। भास से स्वप्नवासवदत्तम् में पग-पग पर ध्वनि का सुन्दर प्रयोग करके अपनी काव्य-विषयक चेतना का प्रमाण दिया है।

-शोधछात्र-संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११०००७। मोबाईल: ९७१७२-८६३९३

२२. अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते। यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः।। (ध्वन्यालोक, २/२२)
२३. स्वप्नवासवदत्तम्,१/५. २४. काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता (काव्यप्रकाश, सूत्र-११४).
२५. उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। (काव्यप्रकाश, सूत्र-१५८).
२६. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यस्य दृश्यते। यत्रव्यङ्ग्यान्वयेवाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्।। (ध्वन्यालोक,३/८).
२७. अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्, सन्दिग्धतुल्यप्रधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।। (काव्यप्रकाश, ५/४५).
२८. स्वप्नवासवदत्तम्, १/६.

संस्थान-समाचार

दान

डॉ. तिलकराज शर्मा, २००/-
कृष्ण नगर, होशियारपुर।

डॉ. एन.के उबराय, २०,०००/-
सी-३२, कालिंदी कॉलोनी,
नई दिल्ली।

श्री जतिन्द्र कौशिक, २८००/-
मकान नं. ८४९, संजय कॉलोनी,
नरेला, दिल्ली।

श्री डी.पी. वासुदेवा, ५००/-
कूल रोड़, जालन्धर।

श्रीमती लता बांसल, १०,०००/-
पत्नी स्व. श्री के.वी. बांसल,
४१एच.बी. एस.एफ. एस. फ्लैट,
साकेत, नई दिल्ली।

विंग कमांडर ३०००/-
एस.आर. लक्ष्मीनारायण,
स्वास्थ्य रिटार्यमैंट होम,
शोलापुर, पोलाची।

श्री भरत सूद, २१००/-
सुपुत्र स्व. श्री संजीव सूद,
विद्या निकेतन, जोधामल रोड़,
होशियारपुर।

श्री विमल कुठियाला, १००/-
जोधामल रोड, होशियारपुर।

डॉ. वसुन्धरा रिहानी, ५०००/-
१६१७, सैक्टर ४४-बी,
चण्डीगढ़।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

एडवोकेट सजीव कान्त शर्मा, १०००/-
डी.सी. रोड़, होशियारपुर।

हवन-यज्ञ-

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के कार्य-दिवस का शुभारम्भ प्रतिसप्ताह के प्रथम दिन सत्संग-मन्दिर में हवन-यज्ञ से किया जाता है।

विविध-समाचार

शोक-समाचार-

संस्थान के आजीवनसदस्य श्री सुरेन्द्रमोहन सोनी जी का ९-१-२०२१ को होशियारपुर में अचानक देहान्त हो गया। आप बड़े ही सरल स्वभाव, मिलनसार और धार्मिक व्यक्ति थे। आप संस्थान के प्रति प्रेम रखते थे और कभी-कभी संस्थान में आया करते थे तथा प्रतिवर्ष दान दिया करते थे। इस दु:ख के अवसर पर संस्थान के सभी कर्मिष्ठों की ओर से शोकाकुल परिवार के प्रति हार्दिक समवेदना है। प्रभु से प्रार्थना है कि वह उनकी आत्मा को शांति दे तथा सम्बन्धित परिवार को इस दु:ख को सहने की शक्ति दे।

ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

विश्वज्योति के लेखकों के लिए

विशेष सूचना

रामचरितमानस विशेषाङ्क

वर्ष २०२१ के विशेषाङ्क के लिए विश्वज्योति परामर्श मण्डल द्वारा श्री रामचरितमानस विशेषाङ्क प्रकाशित करने का सर्वसम्मति से निर्णय लिया गया। यह अंक दो भागों (अप्रैल-मई) तथा (जून-जुलाई) में होगा। विश्वज्योति के पाठकों एवं लेखकों से निम्रतापूर्वक निवेदन है कि आप इस विषय को आधार बनाकर २८ फरवरी २०२१ तक अपने लेख विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान कार्यालय को भेज दें।

१. मान्यवर लेखकों से निवेदन है कि लेख अधिक से अधिक ५/६ पृष्ठ का होना चाहिए।

२. लेख की भाषा तथा भाव आक्षेप रहित होने चाहिएं।

३. लेख इससे पहले कहीं न छपा हो।

(इन्द्रदत्त उनियाल)
संचालक

सत्संग मन्दिर

संस्थान यज्ञशाला

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर (पंजाब) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर-१४६ ०२१ (पंजाब) से २८-०१-२०२१ को प्रकाशित।